प्रथम सस्करण, १९५३

मूल्य, दो रुपए

मुद्रक जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता – ७

सप्रेम समर्पण

राजर्षि टडन के प्रति किए गए अन्याय-अपराध को जिसने
राष्ट्रीय अपराध के रूप में अनुभव किया और इसी
लिए उन 'वडे' लोगो के साथ काम करना जिस
के लिए असह्य हो उठा, जिस ने जनतत्र के प्रति
अपनी निष्ठा की उमग मे राजगद्दी पर लात मार
दी और पुन अपने साहित्यिक रूप मे जो
प्रकट हो रहा है, ब्राह्मणत्व के उस
तेजस्वी प्रतीक—

पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र को

सप्रेम समर्पित

काम और नाम से परिचित—

किशोरीदास वाजपेयी

लेखक का निवेदन

सन् १९१५-१६ से मैं साहित्य तथा साहित्यिकों के सम्पर्क में आया, जब कि वृन्दावन में संस्कृत का छात्र था। पं० किशोरी लाल गोस्वामी काशी छोड़ वृन्दावन आ-बसे थे। 'सुदर्शन प्रेस' नाम से एक छोटा-सा छापाखाना खोला था और 'वैष्णव-सर्वस्व' नाम का एक छोटा-सा मासिक पत्र निकाला था, गोस्वामी जी ने। उन के सुपुत्र पं० छबीले लाल गोस्वामी प्रेस के तथा पत्र के व्यवस्थापक थे। इसी मासिक पत्र के माध्यम ने मुझे गोस्वामी जी से मिलाया। मेरा पहला लेख 'दशधा भक्ति' शीर्षक से इसी पत्र में छपा था, १९१६ में। आगे गोस्वामी जी ने इस पत्र का 'सहायक सम्पादक' भी मुझे बना लिया था। वेतन आत्मतुष्टि मात्र।

गोस्वामी जी के ही यहाँ भारतेन्दु-साहित्य से परिचय हुआ। भारतेन्दु जी के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'वैष्णवता और भारतवर्ष' नाम के नाटक तथा निबन्ध मुझे बहुत रुचे थे। फिर श्री राधाचरण गोस्वामी से परिचय हुआ। आगे चल कर ये दोनों ही गोस्वामी 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष हुए। तब मैं इन्हें इतना बड़ा न समझता था। कुछ पता न था। 'सम्मेलन' को ही वैसा न जानता था। नाम भर सुना था।

वहीं श्री मधुसूदन लाल गोस्वामी के दर्शन हुए। आप सन्यासी थे और 'श्री राधा रमण' के मन्दिर में रहते थे—मन्दिर के बाहर, बाहरी फाटक के भीतर प्रवेश करते ही दाहिने हाथ के एक ऊँचे कमरे में। ये भी पुराने साहित्यकार थे। इन का लिखा एक अच्छा नाटक 'गायत्री-परिणय' मैं ने पढ़ा था। बड़ी बढ़िया हिन्दी लिखते थे और संस्कृत के विद्वान् थे। श्री राधाचरण गोस्वामी अनन्य वैष्णव थे—'भार-

तेन्दु'-सखा थे और समाज-सुधार के पक्षपाती थे। इसी कारण वृन्दावन-वासी 'अतिसनातनी' लोग इन्हें उस समय 'प्रच्छन्न आर्यसमाजी' कहते थे। राजा महेन्द्र प्रताप उन दिनो देशभक्ति के नशे में धुत्त हो रहे थे। राजपाट छोड कर विदेश जाने की फिक्र में थे। प्रथम विश्वयुद्ध में ही जो लोग देश को स्वतत्र कर लेने की सोच रहे थे, उन में ही राजा साहब थे। 'प्रेम महाविद्यालय' की स्थापना आप कर चुके थे। फिर बहुत बडा भू-भाग आप ने गुरुकुल के लिए दान कर दिया। उ० प्र० आर्य प्रतिनिधि सभा का 'गुरुकुल' तब तक फर्रुखाबाद में ही था। वृन्दावन में पांव टेकने को जगह राजा साहब ने दे दी, तो यहां (वृन्दावन में) धूमधाम से उठ आया। इस घटना ने ऐसा बवडर पैदा कर दिया कि वृन्दावन की सडक पर राजा साहब का निकलना असम्भव हो गया। गुरुकुलवालों पर तो मार भी पडी। इस तूफान को श्री राधाचरण गोस्वामी ने ही शान्त किया था। इस के बाद राजा साहब विदेश चले गए और मैं पजाब चला गया। पजाब में अमृतसर को विपाक्त करने वाले जनरल डायर का 'जलियांवाला बाग'—काण्ड देखा। राष्ट्र-भाषा की भक्ति में राष्ट्र-स्वातत्र्य का पुट लग गया। आगे चल कर 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' तथा 'काग्रेस' के द्वारा बार-बार झकझोरा गया। जीवन तीन जगह बँट गया—गृहस्थी-सचालन, सम्मेलन को पूर्ण सहयोग, काग्रेस के सभी आन्दोलनो में पड कर सब कुछ भूल जाना। इस के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य में गडबडी।

इन सब कारणों से साहित्य-सेवा का वैसा कोई स्थायी काम न कर सका। परन्तु रोटी-दाल की तरह कुछ देता रहा, जिस का अस्तित्व क्षण भर का, पर महत्त्व कम नहीं। सन् १९३०-३२ तक यही स्थिति रही। परन्तु छुट-पुट चीजें ऐसी निकल चुकी थीं कि आचार्य द्विवेदी ने किसी तरह कहीं से मेरा पता-ठिकाना मालूम कर के शाबासी का कार्ड भेजा। तब अपने मार्ग की दिलजमई हुई और एक दिशा में

कुछ स्थायी काम करने का विचार किया। आगे 'सम्मेलन' तथा 'कांग्रेस' में लगा रहने पर भी कुछ स्थायी साहित्य दे सका, जिस की प्रशंसा महाकवि 'हरिऔध' तक ने की। उस के आगे तो एक दिशा में ऐसा काम हुआ कि सभी लोग मान गए।

परन्तु! परन्तु यह सब होने पर भी मुझे 'सफलता' न मिली! एक बार मन में आया कि पान या चाय की छोटी सी दूकान खोल ली जाए, तो जीवन-यापन की चिन्ता दूर हो! साहित्य जाए भाड़ में, यदि बाल-बच्चों के लिए रोटी की चिन्ता! परन्तु भगवान् ने कहा—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'। और कहा—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'—साहित्य छोड़ कर तू जाए गा कहाँ? तेरी प्रकृति ऐसी बन गई है कि वह तुझे फिर इधर ही घसीट लाए गी और 'करिष्यवशोऽपि तत्'—विवशतः तू फिर वही काम करेगा, साहित्य में ही जुते गा और पान-चाय आदि की दूकान अब तू न कर सके गा।

सो, बलात् इधर लगा हुआ हूँ—'सफलता' मृगमरीचिका हो रही है। पर अब तो थक गया हूँ। इस लिए आगे के लोगों को सावधान करना चाहता हूँ कि मेरा मार्ग न पकड़ना, यदि 'सफलता' चाहते हो, साहित्य-क्षेत्र में। 'हम बूडे तो बूडे भाई, तुम मत बूडो राम-दुहाई।'

साहित्य-क्षेत्र में 'सफलता' चाहने वालों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। असफलता के कारण और सफलता की कुंजी, दोनों इस पुस्तक में हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस छोटी सी पुस्तक से हिन्दी-जगत् का उपकार हो गा।

कनखल (उ० प्र०)
वैशाखी २०१० विक्रमीय

किशोरीदास वाजपेयी

साहित्यिक जीवन

के

अनुभव और संस्मरण

प्रथम उन्मेष

१९१९-१९३०

हिन्दी तथा हिन्दी-साहित्य मे मेरा चचु-प्रवेश सन् १९१५–१६ मे ही हो गया था , पर वस्तुत मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ सन् १९१९ मे हुआ, जब कि मैं 'शास्त्री' हो गया। १९१९ से १९२५ तक मेरे साहित्यिक जीवन का प्रथम उन्मेष समझिए। इस से पहले तो मैं हिन्दी का स्वरूप भी ठीक-ठीक न समझ पाया था। सन् १९१६ मे श्री किशोरीलाल गोस्वामी से इस लिए झगड बैठा था कि मेरे एक वाक्य मे 'दश प्रकार की भक्ति, के 'दश' को काट कर 'दस' गलत क्यो कर दिया गया। गोस्वामी जी उस समय मुस्किरा कर केवल इतना बोले थे कि हिन्दी मे 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है और क्यो चलता है, यह सब आगे मालूम हो जाए गा। सन् १९१९ तक मैं ने हिन्दी का रूप बहुत कुछ समझ लिया था , पर यह न जान पाया था कि मेरी हिन्दी को लोग कैसा समझते है। सयोग से एक ऐसी घटना

साहित्यिक जीवन

के

अनुभव और संस्मरण

प्रथम उन्मेष

१९१९-१९३०

हिन्दी तथा हिन्दी-साहित्य मे मेरा चचु-प्रवेश सन् १९१५–१६ में ही हो गया था, पर वस्तुत. मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ सन् १९१९ में हुआ, जव कि मै 'शास्त्री' हो गया। १९१९ से १९२५ तक मेरे साहित्यिक जीवन का प्रथम उन्मेष समझिए। इस से पहले तो मै हिन्दी का स्वरूप भी ठीक-ठीक न समझ पाया था। सन् १९१६ मे श्री किशोरीलाल गोस्वामी से इस लिए झगड़ वैठा था कि मेरे एक वाक्य मे 'दश प्रकार की भक्ति, के 'दश' को काट कर 'दस' गलत क्यो कर दिया गया। गोस्वामी जी उस समय मुस्किरा कर केवल इतना वोले थे कि हिन्दी मे 'दश' की जगह 'दस' ही चलता है और क्यो चलता है, यह सव आगे मालूम हो जाए गा। सन् १९१९ तक मैं ने हिन्दी का रूप वहुत कुछ समझ लिया था, पर यह न जान पाया था कि मेरी हिन्दी को लोग कैसा समझते है। संयोग से एक ऐसी घटना

घटी, जिस से मुझे पता चल गया कि मेरी हिन्दी विद्वान् भी पसन्द करते है। बात यह हुई कि मैने एक—

गद्य-काव्य

लिखा, 'जलियांवाले बाग' में और उस के चारो ओर जो कुछ देखा था, उसी का चित्रण अपनी शक्ति के अनुसार किया था। जहाँ तक शक्ति थी, बहुत अच्छी चीज तैयार की थी। सोचा, किसी अच्छी जगह प्रकाशित होना चाहिए। उस समय हिन्दी की एकमात्र प्रतिष्ठित ग्रन्थमाला थी—'हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर' (हीराबाग, बम्बई)। उस ग्रन्थमाला के सचालक श्री नाथूराम प्रेमी की उस समय हिन्दी-जगत् मे अत्यधिक प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा थी। प्रेमी जी स्वय विद्वान् साहित्यकार है। मै ने अपना वह गद्य काव्य 'जलियाँ-वाला बाग' वहाँ प्रकाशनार्थ भेजा। ऐसा कुछ याद पडता है कि नाम उस का शायद 'अमृत मे विष' या ऐसा ही कुछ रखा था। लगभग पन्द्रह दिन बाद प्रेमी जी का उत्तर मिला। लिखा था कि हमारे यहाँ स्थायी साहित्य ही प्रकाशित होता है, दूसरी तरह का नही, इस लिए आप की पुस्तक वापस भेजी जा रही है। पत्र में यह भी लिखा था कि "आप की हिन्दी हमे बहुत पसन्द आई है। एक सस्कृत का पण्डित ऐसी बढिया हिन्दी लिखता है, यह देख कर प्रसन्नता हुई।" आगे प्रेमी जी ने लिखा था कि "यदि आप कुछ जैन सस्कृत ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद कर दे, तो अच्छा। उत्तर पाने

पर वे पुस्तकें भेज दी जाएँ गी, जिन का अनुवाद कराना है। यह काम 'जैन ग्रन्थ रत्नाकर' की ओर से हो गा।" शब्द मुझे याद नही, आशय यही था।

मुझे यह जान कर बडी प्रसन्नता हुई कि मेरी हिन्दी को साहित्य के एक वहुत पुराने और प्रतिष्ठित लेखक-प्रकाशक ने पसन्द किया है। अधिक सुख इस लिए भी मिला कि यह प्रशसा मुझे अनायास मिल गई थी—उस पुस्तक में भाषा के बनाव-शृगार पर मै ने कतई ध्यान न दिया था। वोल-चाल की साधारण भाषा में हृदय की वात कह गया था। प्रेमी जी के पत्र से मै ने समझा कि साधारण वोलचाल की भापा भी पसन्द की जाती है और इस हद तक पसन्द की जाती है। भापा के सजाने-सँवारने में जो सिर खपाया जाता है, उस के दर्द से मै अपरिचित न था। वह सव झझट भी न करने पडे और 'वढिया भाषा' का प्रमाणपत्र भी मिल जाए, इस से अच्छा और क्या! 'विनु प्रयास लका गढ जीता।' एक वडी समस्या हल हो गई। भाषा का स्वरूप अपने लिए निश्चित कर लिया। वही आज तक पकडे वैठा हूँ—चल रहा हूँ।

सनातनी प्रवृत्ति

मै ने लिख दिया प्रेमी जी को कि वे तीनो पुस्तकें भेज दीजिए, जिन का अनुवाद आप कराना चाहते है। मुझे और चाहिए क्या था? साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में

आगे बढने की दिशा भी न पकड पाया था, चलना-बढना तो आगे की बात है! कभी कविता, कभी कहानी-उपन्यास, कभी आलोचना, यों विविध ओर मन जाता था। ऐसी स्थिति मे इतने प्रतिष्ठित प्रकाशन द्वारा सम्मान प्राप्त हो, सहस्रो रुपये पुरस्कार मे मिले और देश भर मे नाम हो, इस से अधिक और क्या चाहिए? सो, पुस्तकें भेज देने के लिए प्रेमी जी को पत्र लिखा और रजिस्टरी पैकेट मे वापस आया हुआ अपना वह 'गद्य काव्य' फाड दिया!

प्रेमी जी ने तीन पुस्तकें भेजी—१–प्रद्युम्नचरित, २–अनिरुद्धचरित, ३–सागारधर्मामृत। एक चौथी पुस्तक शायद 'पार्श्वनाथ चरित' थी। 'सागारधर्मामृत' जैन (दिगम्बर जैन) जनो की 'मनुस्मृति' समझिए। शेष सब जीवन-काव्य। मै वैष्णव, इस लिए पहले 'प्रद्युम्नचरित' तथा 'अनिरुद्धचरित' पढने लगा। परन्तु कथानक कुछ ऐसा कि मै उद्विग्न हो उठा! मेरी सनातनी वृत्ति जोर से उमड पडी। मैने प्रेमी जी को लिख भेजा कि मै इन ग्रन्थो का अनुवाद न करूँगा, क्योकि इन के कथानक मेरी मनोवृत्ति को ठेस पहुँचाते है। इस पर प्रेमी जी ने पुन अत्यन्त सहृदयता से उत्तर दिया कि आप साहित्यिक दृष्टि से काम करे, जैन कथानको मे कर्म का महत्त्व बतलाने के लिए ही वैसे कथानक है। प्रेमी जी ने यह भी लिखा कि आप तो किसी की चीज का अनुवाद कर रहे है, स्वय तो वैसा कुछ कह ही नही रहे है। अनुवाद करने में क्या बाधा? परन्तु मेरी समझ मे प्रेमी

जी की वात न आई और यो आई हुई—स्वत आई हुई—प्रथम सफलता मैं ने ठुकरा दी !

लक्ष्मी जी ने इस चोट को ध्यान मे रखा। वे कैसे भूल सकती थी ? अभी तक वे पूरा वैर माने वैठी है और मैं ने भी उन्हें मनाने की आज तक चेष्टा न की ! भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की एक सीख मैं ने १९१६ मे ही गोस्वामी जी के यहाँ पढ ली थी—'आप को न मानै ताके वाप को न मानिए।' लक्ष्मी जी ने खूब परेशान किया, कर रही है, परन्तु उन्हे भी समय-समय पर अनुभव होता रहता है कि सरस्वती की चोट कैसी होती है !

इस के वाद मेरा ध्यान पुन सस्कृत की ओर गया। 'पुन' का मतलव यह कि 'शास्त्री' होने से पहले ही मै ने सस्कृत में एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। 'निम्वार्काचार्यस्तन्मत च।' वैष्णवो के चार प्रमुख सम्प्रदायो में एक 'निम्वार्क-सम्प्रदाय' है। श्री किशोरीलाल गोस्वामी इसी सम्प्रदाय में थे, उन का मासिक पत्र 'वैष्णव धर्म' इसी सम्प्रदाय का मुखपत्र था, जिस के माध्यम से मैं उन के पास पहुँचा था। मै भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षित था। 'शास्त्री' होने से पहले ही मैं सस्कृत-अध्यापक हो गया था, और रुपये हाथ में आते ही वह सस्कृत पुस्तिका छपा डाली। इटावा के 'ब्रह्म प्रेस' में उसे छपाया था, मूल्य शायद आठ आने रखा था, पर विकी नही। तव वृन्दावन में तथा काशी में मुफ्त वितरित करा दी थी ! तव सस्कृत से हिन्दी की ओर फिर मुडा था। उस गद्य-काव्य

तथा अनुवाद-प्रकरण के अनन्तर फिर सस्कृत की ओर ध्यान गया , परन्तु एक नये रूप में । सोचा, ऐसे विषयो पर सस्कृत में रचनाएँ करनी चाहिए, जो नानी है—इतिहास, भूगोल, समाज-शास्त्र आदि । सोचते-सोचते मन मे यह आया कि मैट्रिक के लिए यदि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कोई सस्कृत पुस्तक लिखी जाए, तो बहुत अच्छा काम हो । लिखना प्रारम्भ कर दिया । राष्ट्रीय दृष्टि से सब पाठ लिखे, महर्षि मालवीय, राष्ट्रपितामह लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महात्मा बुद्ध, स्वामी शकराचार्य, महारानी लक्ष्मी बाई आदि के सक्षिप्त जीवन-पाठ दिए । सस्कृत भाषा के लिए मै पूर्ण विश्वस्त था, क्योकि काशी की प्रथमा परीक्षा का जब मैं वृन्दावन मे छात्र था, तो अनुवाद आदि की सस्कृत देख कर मेरे अध्यापक प्रशसा करते हुए गद्गद हो जाते थे । उस समय मेरी सस्कृत को लोग, 'पचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' के ढग की बताया करते थे । सच बात तो यह है कि विषय-निरूपण को श्रेय कम और सस्कृत को श्रेय अधिक है कि मै सस्कृत की परीक्षाओ मे वैसे उच्च तथा सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता रहा । इसी बल पर वैसी सस्कृत-पुस्तके लिखने का उपक्रम किया था । बीच-बीच में यथाप्रसग नीति-साहस आदि के पद्य उद्धृत किए थे, जो सीधे 'पचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' से ले लिए थे ।

पुस्तक तयार होने पर मै ने लाला आत्माराम एम० ए० को दिखाई, जो उस समय अम्बाला डिवीजन के स्कूल-इस्पेक्टर थे । आप बडे सहृदय तथा सस्कृत के विद्वान् थे । उस

समय मे अम्बाला-डिवीजन के करनाल जिले में—पुडरी के सनातनधर्म हाई स्कूल मे—सस्कृत हिन्दी का अध्यापक था। इस स्कूल के प्रधानाध्यापक प० वशीधर शर्मा एम० ए०, वी० टी० मेरे मित्र बन गए थे, क्योकि आप भी सस्कृत के एम० ए० थे—लाहौर के सनातनधर्म कालेज से आए थे। शर्मा जी ने ही मुझे लाला आत्माराम जी से मिलाया था।

लाला आत्माराम जी पुस्तक देख कर वहुत प्रसन्न हुए, पर सलाह दी कि इस में ईसा, विक्टोरिया तथा वर्तमान सम्राट् के जीवन और दे देने चाहिए। मैं ने ईसा का जीवन देना तो मान लिया, पर अन्य कुछ देने को राजी न हुआ। तव लाला जी ने स्पष्ट कहा कि ऐसी स्थिति मे आप की पुस्तक मैट्रिक मे न लग सकेगी। वहुत समझाया कि छात्रो में अच्छे विचार जाएँ गे और आप को काफी रुपये मिलें गे, हर्ज क्या है वैसा करने मे, पर उन की सुन्दर सीख ने मेरे ऊपर कोई असर न किया! तव उन्हो ने कह दिया कि ऐसी स्थिति मे पुस्तक इधर-उधर भेजने मे डाक-खर्च और वढाना व्यर्थ है। लाला जी की यह वात सुन कर मै ने यह पुस्तक भी फाड दी!

'माधुरी' का प्रकाशन

इसी समय वडे ही ठाट-वाट से 'माधुरी' नाम की मासिक पत्रिका लखनऊ से प्रकाशित हुई। 'नवल किशोर इस्टेट' के मालिक मुन्शी विष्णुनारायण भार्गव की पुष्कल धन-

राशि, श्री दुलारे लाल भार्गव का उद्योग और प० रूपनारायण पाण्डेय का सुपरिपक्व सपादन-अनुभव, इन तीनो तत्वो के सम्मिलन से 'माधुरी' का प्रादुर्भाव हुआ था—'तुलसी-सवत्, शायद ३०० था। इस पत्रिका में 'तुलसी-सवत्' ही छपता था, न ईसवी-सन्, न विक्रम-सवत्। 'माधुरी' के प्रकाशन से हिन्दी-जगत् आनन्द-विभोर हो उठा था। आचार्य द्विवेदी से हीन 'सरस्वती' फीकी पड चली थी, वह 'माधुरी' के प्रकाशन से और भी अधिक श्रीहत हो गई। अन्य पत्र-पत्रिकाओ की तो फिर बात ही क्या! हाँ, समाज-सुधार के उद्देश्य से प्रकाशमान और वर्द्धमान 'चांद' अवश्य कोई चीज था।

'माधुरी' का अक मै ने नमूने के लिए मँगाया और स्कूल मे मँगवाने के लिए सिफारिश की। 'माधुरी' आने लगी, मै पढने लगा। थोडे ही दिनो मे भार्गव साहब पाण्डेय जी को साथ ले कर 'माधुरी' से अलग हो गए और एक नई पत्रिका 'सुधा' निकाली—'माधुरी' के ही टक्कर की। मुन्शी विष्णु-नारायण भार्गव भी शान के रईस थे, मूछे नीची करना पसन्द न था। 'माधुरी' के दो अच्छे से अच्छे सम्पादक चुने प० कृष्णविहारी मिश्र और श्री प्रेमचन्द। इन दोनो विद्वान् तथा कलानिधि सम्पादको ने 'माधुरी' का स्तर और भी ऊँचा कर दिया। मेरे कई लेख, 'सुधा' में निकले, 'माधुरी' मे भी कुछ। इसी समय महामहोपाध्याय प० सकलनारायण शर्मा ने 'माधुरी' में एक छोटा सा लेख छपवा कर हिन्दी के गठन पर

एक जिज्ञासा प्रकट की। आप ने इस लेख में यही लिखा था कि हिन्दी-व्याकरण के अनुसार, भिन्न-लिंग अनेक 'कर्त्ता' कारको की उपस्थिति में, अन्तिम 'कर्त्ता' के अनुसार क्रिया का रूप होता है , पर 'देखि रूप मोहे नर-नारी' जैसे प्रयोग सामने आकर उस नियम को झकझोर देते है। शर्मा जी ने यह भी लिखा था कि यह पद्य की ही बात नही, गद्य में भी—'कश्यप और अदिति प्रणाम करते है' इस तरह के शिष्ट-प्रयोग है। तब व्याकरण के उस नियम की क्या स्थिति है ?

अब तक मै कविता या कविता पर ही कुछ लिखा करता था। शर्मा जी के इस लेख ने मुझे भाषा के स्वरूप पर भी कुछ सोचने को प्रेरित किया। शर्मा जी ने जिज्ञासा भर प्रकट की थी, समाधान के लिए कुछ न लिखा था। शर्मा जी केवल सस्कृत के ही विद्वान् न थे, हिन्दी के पुराने और प्रतिष्ठित साहित्यकार थे, 'शिक्षा' नाम की पत्रिका एक मुद्दत तक चला चुके थे और सरस्वती के वरद पुत्र पाण्डेय श्री रामावतार शर्मा तथा प० पद्मसिह शर्मा के साहित्यिक मित्र थे। उन की यह हिन्दी-विषयक जिज्ञासा सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए एक चुनौती थी। मै ने इस पर खूब सोचा और समाधान ढूंढा, तर्क से पुष्ट किया और लिख कर 'माधुरी' में छपने भेज दिया। मेरे इस लेख को पढ कर प० कृष्णविहारी मिश्र अत्यन्त प्रभावित हुए और प्रशसा की। मिश्र जी से वैसी प्रशसा सुन कर मेरे मन मे आया कि हिन्दी के स्वरूप पर भी कुछ लिख सकता हूँ। यह ध्यान देने की बात है कि शर्मा जी की उस

जिज्ञासा के समाधान मे और किसी ने कुछ भी न लिखा और न मेरे समाधान पर ही—स्वय शर्मा जी के द्वारा या अन्य किसी के द्वारा—कोई विप्रतिपत्ति न उठाई गई। इस से दिलजमई और पक्की हो गई कि यह भी विषय कुछ काम करने योग्य है।

इस समय तक मै सम्पादको को देवता समझता था!

मन मे आया कि स्कूल के बखेडे मे हट कर देवताओ के वीच में रहना चाहिए। मै समझता था कि जैसा ये लिखते है, वैसे ही है भी! पत्र-व्यवहार 'सुधा' तथा 'चाँद' मे किया। दोनो जगह से स्वागत हुआ। पहले लखनऊ गया। स्टेशन पर श्रीमती जी को वैठा दिया, गोद मे छोटा वच्चा था! जलती हुई लू चल रही थी। मै 'गगा फाइन आर्ट प्रेस' पहुँचा, जहाँ से 'सुधा' निकलती थी। भार्गव जी से भेट हुई, पर उन्हो ने यह न पूछा कि कव आए, कहाँ ठहरे हो! एक पुर्जी मैनेजर के नाम लिख दी और कहा कि जाकर अपना काम सँभाल लीजिए! मै लू से उतना न जला था, जितना इस 'दफ्तरी' व्यवहार से जल गया! साहित्यिक की कल्पना मेरे मन मे 'सुधा' ने वहुत मीठी पैदा कर दी थी। मै ने उन से कुछ न कहा और मैनेजर की ओर मुड कर वह पुर्जी फाड कर डाल दी, जूतो से उसे कचर भी दिया। फिर मैनेजर साहव के पास जाकर निवेदन किया कि आप के पते पर मेरी जो डाक आए, सव 'चाँद' कार्यालय (प्रयाग) को भेज दीजिए गा। मैनेजर साहव ने मेरा निवेदन नोट कर लिया और मै वापस स्टेशन पर। श्रीमती जी आशा लिए वैठी थी कि ठहरने आदि का

प्रवन्ध कर के आ रहे हो गे। मेरा तमतमाया मुंह देख कर भाँप न सकी कि क्या बात है , परन्तु जव सुना कि यहाँ से प्रयाग चलना है, तो एकदम मुरझा गई ! पर वस क्या था ?

उस समय हम लोगो ने वही आराम किया, रात मे भी सोए और सवेरे की गाडी से प्रयाग को चले। ठीक दुपहरी मे ही—

यह गाड़ी भी प्रयाग पहुँची

उसी तरह स्टेशन पर श्रीमती जी को वैठा कर मै 'चन्द्रलोक' पहुँचा। चलते-चलते सोचता जा रहा था कि 'सुधा' जैसी मीठी निकली, वैसा ही शीतल 'चाँद' निकला, तो क्या हो गा ! परन्तु 'चन्द्रलोक' पहुँच कर अनुभव किया कि साहित्यिक अभी है। पहुँचते ही 'चाँद' के सचालक श्री रामरख सिह सहगल ने जलपान कराया और फिर पूछा कि 'अकेले ही आए है क्या ?'

"नहीं, अकेले ही नही, सकुटुम्व आया हूँ।"

"तो, सव को छोड कहाँ आए ?"

"सव स्टेशन पर है। सोचा कि पहले जगह का प्रवन्ध कर लूं, तव सव को ले चलना ठीक हो गा"

"आप वडे विचित्र आदमी है ! क्या कही जगल मे आए है क्या ? जा कर पहले उन लोगो को ले आइए।"

सहगल जी ने कुछ प्रणय-कोप प्रकट किया, जिस से उन

की सहज आत्मीयता झनक उठी। मै क्या कहना कि लखनऊ मे क्या हुआ! स्टेशन वापस आ कर सब को 'चन्द्रलोक' ले गया—'सब' का अर्थ है मेरी स्त्री और मेरा वह पहला छोटा सा बच्चा। सहगल जी मे मेरा वेतन ठहरा था, ठहरने के लिए ठीहे की कोई चर्चा न हुई थी। परन्तु 'चन्द्रलोक' पहुँच कर क्या देखा कि सहगल जी के निवासस्थान तथा प० नन्द-किशोर तिवारी ('चाँद'—सम्पादक) के आवास के वीच में एक अच्छा कमरा साफ किया हुआ तयार है, जहाँ भोजन बनाने आदि की पूर्ण सुविधा। फर्श कच्चा था, जो गोवर से सद्य प्रमार्जित आँखो को तथा मस्तिष्क को शीतल कर रहा था। एक तिपाई पर मिट्टी का नया घडा, जल से पूर्ण, सोंधी सुगन्ध गमका रहा था। कमरे मे दो, नई वुनी हुई, चारपाइयाँ पडी थी। दो सेवको ने दौड कर सामान उतारा। तिवारी जी को साथ लिए सहगल जी आ गए। मीठी-मीठी वाते हो रही थी कि गृहिणी के लिए (और मेरे लिए तो दुवारा) सुशीतल जलपान आ गया। गृहलक्ष्मी श्री विद्यावती सहगल और उन की छोटी वहन स्वय हम लोगो के लिए पूडी-शाक तयार कर रही थी, यह सौजन्यातिशय की वात मुझे वाद मे मालूम हुई, चर्चा चलने पर। आध घटे के भीतर ही भोजन तयार हो कर आ गया, जव तक हम लोग स्नान आदि से निवृत्त हुए। विशेप वात यह कि नौकर के साथ स्वय श्रीमती सहगल भोजन ले कर आई थी। मन ने कहा कि जन्म भर अव यही रहना हो गा। भोजन कर के हम

लोग सो गए, बहुत थके थे। आज तक वह सौजन्य हृदय को आनन्द विभोर किए रहता है।

'चाँद' कार्यालय मे मुझे पुस्तक-विभाग मे रखा गया

पुस्तको का सशोधन-सम्पादन काम। कमरे मे तीन मेजे लगी थी। बीच में प० नन्दकिशोर तिवारी बैठते थे, जो सहगल जी के साथ 'चाँद' का सम्पादन करते थे। उन के बाई ओर श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव बैठते थे, जो अच्छे कवि थे। 'चाँद'—सम्पादन मे सहायता करते थे और चित्रो के नीचे छापने के लिए बहुत बढिया कविता लिखते थे। उन की उन कविताओ से चित्र तथा व्यग-चित्र बोल उठते थे। तिवारी जी के दाहिनी ओर मेरी मेज थी। श्रीवास्तव जी शहर में अन्यत्र कही रहते थे, काम के समय आते थे।

मुझे काम करते एक ही सप्ताह बीता था कि एक घटना मजेदार घट गई। उस समय—

'चाँद' का 'अछूत अंक'

निकालने की बडी भारी तयारी हो रही थी।तब तक ,'हरिजन' नाम उन के लिए न चलाया गया था। एक दिन तिवारी जी ने कहा कि 'अछूत-अक' के लिए कुछ अछूत सन्त-भक्तो पर एक लेख लिख दीजिए। मै ने स्वीकार कर लिया और कहा कि 'भक्तमाल' मँगा दीजिए। 'चाँद'—कार्यालय का काम, प्रबन्धशीलता मे, एक दम योरपीय ढग पर था। वैसा प्रबन्ध मै ने किसी भी हिन्दी पत्र-पत्रिका के कार्यालय का,

आज तक नही देखा। आध घटे के भीतर ही बाजार मे 'भक्तमाल' आ गई। विषय मेरा देखा-समझा था। देर न लगी, कोई दो-ढाई घटे मे एक लेख लिख कर तयार कर दिया। शीर्षक था—'कुछ अछूत सन्त और भक्त'। लेख तिवारी जी को दिया, तो उन की प्रसन्न आँखो ने हर्ष तथा आश्चर्य प्रकट किया। लेख पढ कर उन्हो ने मुझ से तो कुछ न कहा, पर उठ कर कही चले गए। अगले दिन की घटना से जाना कि वे उस समय सहगल जी के पास गए हो गे और इतनी जल्दी इतना वडा वैसा लेख लिख देने के कारण मेरी प्रशसा की हो गी।

दूसरे दिन की वात—हम लोग काम कर रहे थे कि सहगल जी आ गए। एक कागज का टुकडा तार से झटक कर जेब से कलम निकाली और उस पर लिख दिया—'जो कुछ आप को देना तै हुआ है, उस में दस रुपए मासिक की वृद्धि की गई।' कागज मेरी ओर वढा दिया। मै ने ले कर पढा, उछल पडा। खडे हो कर धन्यवाद दिया। 'चाँद' कार्यालय के एक कक्ष मे एक सूचना टगी थी। लिखा था—'यहाँ वेतन वढवाने के लिए किसी को अर्जी देनी नही पडती है'। उस की सत्यता प्रमाणित हुई। वस्तुत वहाँ प्रत्येक कर्मचारी को और जगह से सवाया वेतन मिलता था और सब लोग ड्योढा काम करते थे, बडी प्रसन्नता से, आगे बढने की आशा।

उस समय 'चाँद' सन्तति-नियमन पर जोर दे रहा था और उस के लिए नए साधनो के भी पक्ष में था। महात्मा गान्धी भी उन दिनो सन्तति-नियमन की चर्चा वरावर करते थे,

परन्तु प्राकृतिक सयम के साधन से। आप ब्रह्मचर्य पर जोर देते थे। कदाचित् 'चाँद' के पक्ष का खण्डन उन्हो ने कही किया था और नए कृत्रिम साधनो से विलासिता वढ जाने का खतरा वताया था। इस पर जो एक वडी टिप्पणी 'चाँद' के सम्पादकीय में देने के लिए स्वय सहगल जी ने लिखी थी, उस का सिरा यो था—"वारह वच्चे पैदा करने के वाद महात्मा गान्धी लिखते है—"। आगे ब्रह्मचर्य से सन्तति-नियमन का, महात्मा जी का उपदेश लिख कर, जवर्दस्त खण्डन था। इस से आप समझ सकते है कि सहगल जी कैसे थे। वे किसी से दवते न थे। राजनीति में उग्र विचार रखते थे। उस समय 'भारत में अग्रेजी राज' तथा 'चाँद' का 'फाँसी-अक' निकालना उन्ही का काम था।

सहगल जी ने एक अच्छी गौ भी रख छोडी थी। नौकर दूध दुह कर पहले मेरे बच्चे के लिए घर में दे कर तव सहगल जी के यहाँ पहुँचाता था। उस को वैसा करने को हुक्म मिला हुआ था। ठढाई तयार करा के, ठीक समय पर, श्रीमती सहगल भेज देती थी, जो हम तीन-चार लोग मजे से पी कर थकावट दूर करते थे। इस तरह से वडे ही आनन्द का वातावरण था कि एक विक्षोभ की वात आ पडी!

एक दिन अपनी-अपनी मेज पर हम तीनो काम कर रहे थे कि गश्त करते हुए सहगल जी आ-पहुँचे। उन के आने पर सचेष्ट जन सचेष्टतर हो जाते थे, विशेषत प्रूफ देखनेवाले। सहगल जी को न जाने क्या सिद्धि थी कि छूटी हुई गलती पर

तुरन्त नजर जा पडती थी। मुद्रण-कला मे अत्यन्त प्रवीण थे। सो, हम लोग सचेष्ट हो गए। उस दिन वे समाज-सुधार की चर्चा करने लगे। वे प्राय खडे ही खडे बातें करते थे—हम सब लोग बैठे कुछ काम भी करते जाते थे। बात-चीत के सिलसिले मे सहगल जी ने महर्षि मालवीय को एक अपशब्द कह दिया! इस पर मुझे बहुत गुस्सा आ गया और मैं ने, त्योरी चढा कर, प्रतिवाद किया। 'चांद' के सुखमय तथा सौजन्यपूर्ण वातावरण मे यह कल्पनातीत बात थी कि एक कर्मचारी सहगल जी की किसी बात का इस तीखेपन से प्रतिवाद करे! क्षण भर सन्नाटा! फिर सहगल जी ने खिन्न हो कर कहा—"वाजपेयी जी, आप दूर रहे है। मैं प्रयाग मे रहा हूँ। आप सब बाते मालवीय जी की नही जानते है।"

"तो फिर आप मुझे उन की एक-दो बाते वैसी बतलाइए न! सम्भव है, तब मै भी आप के पक्ष का हो जाऊँ।"

इस पर सहगल जी ने आँखो मे आँसू भर कर कहा—

" 'चाँद' का 'विधवा-अक' निकालते समय मालवीय जी की पिछले तीस वर्षो की सब स्पीचे पढ डाली, पर कही जरा भी कुछ विधवाओ के सम्बन्ध मे मुझे वहाँ न मिला।"

"तो सहगल जी, इस से मालवीय जी उस शब्द के पात्र तो नही हो जाते है! उन्हो ने देश तथा जाति के लिए जो इतने बडे-बडे काम किए है, उन का कोई मूल्य नही क्या? विधवाओ के सम्बन्ध में मालवीय जी ने कुछ नही कहा,

कुछ नही किया, ठीक , परन्तु आप जैसे लोग जो कुछ कर रहे है, उस का विरोध तो उन्हो ने नही किया ?"

इस पर सहगल जी चुप रहे। तब मै ने फिर कहा—"मेरे सामने आप कभी मालवीय जी को ऐसा शब्द अब न कहिए गा, अन्यथा मेरा यहाँ रहना कठिन हो गा।"

सहगल जी मेरी बात सुनते हुए आगे बढ गए। यह सहगल जी जैसे तेज प्रकृति के व्यक्ति का मेरे ऊपर प्रेम ही समझिए कि इस तरह की बाते हो जाने पर भी उन्हो ने मुझे 'जवाब' नही दे दिया। परन्तु उन्हे बहुत बुरा लगा। उन्हो ने मुझ से बोलना तक छोड दिया, यद्यपि वह गो-दुग्ध आदि बराबर आता रहा। उस लेख पर सहगल जी लट्टू हो कर मेरे ऊपर फिदा है और मै रूस जाऊँ गा, तो मुझे मनाने के लिए वे यत्न करें गे, तब यह अनमनापन दूर जाए गा, यह मेरे मन में आया। मै ने यह भी सोचा कि मालिक नाराज हो जाए, तो वहाँ रहना ठीक नही। खूब सोच-विचार कर त्यागपत्र लिखा। मन मे था कि इस से या तो सहगल जी पिघल जाएँ गे, या फिर मुझे छुट्टी मिल जाए गी। त्यागपत्र मे एक मास का नोटिस था कि अधिक से अधिक एक मास के भीतर आप मुझे सेवा से निवृत्त कर दे और जल्दी से जल्दी जब आप चाहे। सहगल जी के छोटे भाई मैनेजर थे। उन्हें त्यागपत्र दे आया। कोई दो घटे के भीतर ही चपरासी चिट ले कर आया। लिखा था—'आ कर आप अपना हिसाब ले लीजिए।' हाथो के तोते उड

२

गए। इतना न सोचा था ! सोचा था कि एक मास में अपना कोई नया प्रबन्ध मैं कर लूंगा। पास कुछ था नहीं। एक मास का वेतन मिला था और दूसरा चल रहा था। महीने के दस-पन्द्रह दिन गए थे। कैसे क्या होगा, सोच न पाया। परन्तु आन का सौदा था। मैं मैनेजर साहब के पास तुरन्त गया और उन से निवृत्ति-स्वीकृति प्राप्त कर के तुरन्त वेतन का रुपया लिया। उस समय दुपहर बाद चार बज रहे थे। कार्यालय बन्द हुआ, मैं शहर पहुँचा। एक मकान ग्यारह रुपये मासिक पर तै किया और एक मास का पेशगी भाड़ा दे कर मकान में ताला बन्द किया। शाम होते-होते टाँगा ले कर 'चन्द्रलोक' पहुँचा। सामान बाँध कर टाँगे पर रखने लगा, तो सहगल जी आ पहुँचे—

"कहाँ जा रहे हैं ? स्टेशन पर ?"

"नहीं" एक मकान किराये पर ले आया हूँ। वहीं जा रहा हूँ। जब कोई जगह ढूंढ लूंगा, तभी तो स्टेशन पर जाऊँगा।"

सहगल जी बहुत दुखी थे उस समय। बोले—"यह न हो सकेगा कि आप इस शहर में किसी किराये के मकान में जा कर कुछ दिन के लिए रहें। यहीं रहिए, जब कोई जगह मिल जाए, तब चले जाइए गा। नौकरी के अतिरिक्त और भी सम्बन्ध हमारे है।"

परन्तु मैं ने उनकी बात न मानी। तिवारी आदि तो तभी से चुप थे, मेरे चलते समय भी चुप ही रहे। मैं सामान

टाँगे मे रख कर और स्त्री तथा बच्चे को साथ ले शहर आया। घर का ताला खोला, लकडी आदि साथ लेता आया था। खाना रात का बना। खा-पीकर सो रहे।

न जाने कैसे यह घटना शहर के साहित्यिको में फैल गई! सवेरे—

पं० मंगलदेव शर्मा आ पहुँचे

न जाने कैसे घर ढूंढा। सहगल जी को मुहल्ला शायद मैं ने बता दिया था। उस समय (आगरे के) पं० मगलदेव शर्मा 'अभ्युदय' के सम्पादन-विभाग में काम करते थे। कहने लगे—'अभ्युदय' में काम कीजिए। जो कुछ 'चाँद' मे मिलता था, वह यहाँ भी मिले गा। मैं ने उस समय 'अभ्युदय' में रहना ठीक न समझा; क्योकि महर्षि प० मदन मोहन मालवीय इस पत्र के प्रवर्तक थे, जिन के प्रति वैसी भावना के कारण मै 'चाँद' से अलग हुआ था। महर्षि मालवीय के भतीजे प० कृष्णकान्त मालवीय उस समय 'अभ्युदय' के सचालक-सम्पादक थे। प० कृष्णकान्त मालवीय स्वयं एक बडे साहित्यकार, नामी सम्पादक और कांग्रेस के प्रमुख नेता थे। 'अभ्युदय' अच्छा चल रहा था। प्रान्त में 'प्रताप' तथा 'अभ्युदय' की धूम थी। परन्तु प्रकरण ऐसा था कि मालवीय जी के 'पत्र' मे जाना मैं ने उचित न समझा और मित्र शर्मा को धन्यवाद दे कर अपनी नाव यो ही छोड दी।

पत्र-व्यवहार मैं ने 'नवल किशोर प्रेस' (लखनऊ) से

किया और तुरन्त ही वहां से नियुक्ति-पत्र आ गया। वहाँ भी पुस्तक-विभाग मे हो गया। उस समय 'माधुरी' का सम्पादन प० कृष्ण विहारी मिश्र तथा श्री प्रेमचन्द जी कर रहे थे। वडे ठाट-वाट थे। प० गयाप्रसाद शुक्ल 'श्रीहरि' साहित्याचार्य भी सम्पादन विभाग मे थे। एक वहुत वडी मेज पर दाहिने हाथ मिश्र जी और वाएँ श्री प्रेमचन्द जी वैठते थे। इस मेज के वाएँ हाथ 'श्रीहरि' जी की मेज थी। मिश्र जी के सामने मेरी मेज लगती थी। श्रीमद्भागवत का सशोधन उस समय चल रहा था। प्रूफ भी देखने पडते थे। दोनो सम्पादको को डेढ-डेढ सौ रुपए मासिक वेतन मिलता था। उस समय हिन्दी पत्र-सम्पादको का यह सर्वोच्च वेतन था। दोनो सम्पादक थे, कोई 'प्रधान' या 'सहकारी' न था। परन्तु फिर भी पत्रिका के ज्येष्ठ (सीनियर) सम्पादक थे प० कृष्ण विहारी मिश्र।

मिश्र जी पर ही अन्तिम उत्तरदायित्व था। अपना एक अलग पत्र भी मिश्र जी का था—'समालोचक'। 'समालोचक' मिश्र जी अपने गाँव (गन्धौली-सीतापुर) से निकालते थे, स्वय ही सचालक, सम्पादक तथा व्यवस्थापक, सव कुछ थे। वडा सुन्दर मासिक पत्र था, परन्तु ग्राहको का अभाव था। मिश्र जी 'माधुरी' में लग गए, तव 'समालोचक' की स्थिति और भी गिर गई। जमीदारी कुछ थी, उसी का कुछ अश 'समालोचक' खा रहा था। वहुत दिन चलने के वाद यह पत्र वन्द हुआ। तव से मिश्र जी

भी एकान्तवासी हो गए, यद्यपि 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' (सीतापुर) के द्वारा कुछ न कुछ प्रेरणा देते ही रहते है।

श्री प्रेमचन्द जी ऊपर से रूखे जान पडते थे, पर वडे सरस-मधुर थे। मिश्र जी की गम्भीर प्रकृति शुष्कता पैदा कर देती, यदि प्रेमचन्द जी रस न वरसाते रहते। एक दिन वुद्ध भगवान् का एक रगीन चित्र 'माघुरी' के लिए वन कर आया। मुझे भी दिखाया गया। देवताओ ने तपस्या भग करने के लिए अप्सराएँ भेजी थी, जो अपने काम में व्यस्त थी और वुद्ध भगवान् अपने ध्यान मे मग्न थे। श्री प्रेमचन्द जी ने हँसते हुए कहा—'सकल पदारथ है जग माही' और वह गम्भीर वातावरण जो स्तब्ध सा था, एक ठहाके के साथ रगीन हो गया।

एक दिन एक दूसरा रगीन चित्र आया। एक स्वस्थ रमणी अपने सुन्दर शिशु को गोद मे लिए मुँह उसका तृषित नेत्रो से देख रही थी। प्रेमचन्द जी ने मुझ से कहा, इस का नामकरण, पण्डित जी, कर दीजिए। मैने सोच कर कहा— 'मा का धन' कैसा रहेगा? वहुत प्रसन्न हुए। वह चित्र इसी नाम से प्रकाशित हुआ था।

एक दिन मिश्र जी ने एक मजेदार चिट्ठी दिखाई। एक कवि जी ने भेजी थी। लिखा था कि मै 'माधुरी' का ग्राहक हूँ। मेरी कविता छापते रहे गे, तो मै वरावर 'माधुरी' के ग्राहक वनाता रहूँ गा। न छापें गे, तो मै भी ग्राहक न रहूँ गा।

'साहित्यदर्पण' की 'विमला' टीका

लखनऊ के प० शालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य भारत-वर्ष के प्रचण्ड विद्यामार्तण्ड थे। हिन्दी तो ऐसी चुस्त लिखते थे कि पाठक के मुँह से बरबस 'वाह' निकल पडता था। प० पद्मसिंह शर्मा के जोट की हिन्दी लिखते थे। दोनो मे घनिष्ठ मैत्री भी थी। शास्त्री जी 'अ० भा० सस्कृत साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष भी निर्वाचित हुए थे। हिन्दी मे, हिन्दी काव्यो की भी बहुत बढिया आलोचना लिखा करते थे। 'दुलारे दोहावली' के दोहो को खीचतान करके 'मिलाकारी' जी ने अनेकार्थक बनाया, तो शास्त्री जी ने मनोरजक लेख 'विशाल भारत' मे लिखा। ऐसा व्यग्य-पूर्ण लेख मैने आज तक दूसरा पढा नही। उस लेख के बाद 'अनेकार्थ' की हवा एकदम दब गई।

उक्त शास्त्री जी का अलकार शास्त्र पर एक विवाद मिश्र जी से छिड गया था। मिश्र जी को हिन्दी-साहित्य की श्री पितृ-पितामह की परम्परा से वशानुगत मिली है। मिश्र जी ने स्वय अध्ययन मे जन्म लगाया है और इस मे सन्देह नही कि हिन्दी-काव्य समझने मे प० शालग्राम शास्त्री मिश्र जी के मुकाबले ठहर न सकते थे। परन्तु अलकार-शास्त्र तो दूसरी चीज है। मिश्र जी का अध्ययन भी कम नही; पर शास्त्री जी के मुकाबले में वे कुछ ढीले पड गए थे। यह सब मुझे मालूम था।

फिर भी, एक दिन मिश्र जी ने 'साहित्य दर्पण' की 'विमला'

टीका की बडी प्रशसा की। कहने लगे, आप के देखने योग्य चीज है। मिश्र जी के मुख से प्रशसा सुन कर मै ने कहा, आप के यहाँ हो, तो लेते आइए गा, देख लूँ गा। कहा—'छुट्टी पर घर (सीतापुर) जाऊँ गा, तो लेता आऊँ गा। वहीं है।' छुट्टी पर मिश्र जी घर गए, पर पुस्तक लाना भूल गए। कहा, इस बार याद रख कर लेता आऊँ गा।

तब तक मै काम से ऊब गया। सशोधन के लिए सामने पोथा रखा ही रहता था। दिन भर बैठे-बैठे ऊब जाता था, आँखें भी थक जाती थी। अन्तत अपने पुराने काम की ओर फिर रुचि मुडी। और लिखा-पढी कर के गुरुकुल-काँगडी चला आया। यहाँ एक प० ईश्वर चन्द्र जी अध्यापक थे। प्रौढ दार्शनिक है। प० पद्मसिह शर्मा के कृपापात्र है। शर्मा जी के मित्र के ये सुयोग्य पुत्र है। इनके यहाँ मुझे 'साहित्यदर्पण' ('विमला टीका' सहित) मिल गया।

घर ले जा कर पढा। टीका से ग्रन्थ एकदम खुल गया है। सस्कृत ग्रन्थो पर ऐसी टीकाएँ चाहिए। मन खिल उठा, परन्तु एक चीज मुझे अच्छी न लगी। 'विमला' मे सस्कृत के पुराने आचार्यो के मतो का जहाँ जगह-जगह खण्डन है, वहाँ भाषा का सयत प्रयोग नही है। इस तरह झकझोर दिया है, जैसे कोई मास्टर छोटे बच्चो को डाँट-डपट रहा हो। महाकवि माघ के लिए तो बहुत ही हलके शब्दो का प्रयोग है। खण्डन स्वर्गीय साहित्यकारो की कृतियों का कीजिए, पर उन के लिए शब्द-प्रयोग तो शिष्टजनोचित

चाहिए। मै इसी बात पर झल्ला उठा और सम्पूर्ण ग्रन्थ के वैसे अशो पर एक लेख लिख कर 'माधुरी' में छपने भेजा। लेख में मै ने बदला चुकाया था। शास्त्री जी के प्रति भी मैने वैसे ही शब्दो का प्रयोग किया था। लेख वापस आया और मिश्र जी का एक लम्बा पत्र भी आया। लिखा था—"एक लेख मे विषय की स्पष्टता असम्भव है। यदि आप विस्तार मे लेखमाला के रूप मे लिखे गे, तो हम 'माधुरी' मे सहर्ष छापें गे। परन्तु एक निवेदन है कि भाषा सयत रखिए। शिष्ट भाषा में विषय की तर्क-युक्त आलोचना हो गी, तो प्रभावोत्पादन करे गी।"

मिश्र जी की सलाह मुझे बहुत अच्छी लगी। भाषा कैसी अच्छी समझी जाती है, यह मुझे 'प्रेमी' जी से मालूम हुआ था और बडे लोगो के किसी ग्रन्थ की आलोचना करते समय भाषा कैसी रखनी चाहिए, यह मिश्र जी के इस पत्र मे समझा। पुराने साहित्यिको के प्रति वैसे शब्दो का प्रयोग देख कर मै शास्त्री जी से चिढा था, पर उस चिढ मे यह भूल गया कि शास्त्री जी भी तो मुझ से बडे है। मिश्र जी ने मुझे यह बात समझाई। इस के लिए उनके प्रति मेरा आदर बढ गया। सम्पादक का काम किया। शास्त्री जी ने मिश्र जी को उस विवाद में जो झिडकियाँ बताई थी, मै भूला न था। उस से मिश्र जी की इस सम्मति का मूल्य और भी बढ गया।

कुछ ही दिनो में गुरुकुल वालो से मेरी अनबन धार्मिक

ाद के कारण हो गई और मैं नौकरी छोड वीकानेर चला
। वहाँ सेठ भैंरोदान सेठिया की जैन-सस्थाओ में विद्या-
भी चलता था। उसी मे अध्यापक हो कर चला गया।
से 'साहित्य दर्पण' की 'विमला टीका' शीर्षक लेखमाला
की, जो दस महीने तक बरावर, माधुरी मे छपती रही।
लेखमाला के कारण विद्वानो का ध्यान मेरी ओर गया।
गालग्राम शास्त्री आचार्य द्विवेदी के भी घनिष्ठ मित्रो में
पर इस में सन्देह नही कि द्विवेदी जी का मेरी ओर आक-
इसी लेखमाला के कारण हुआ, यद्यपि उन्हो ने ऐसा
नही किया। इस लेखमाला के उत्तर में दो-तीन
शास्त्री जी के भी, 'माधुरी' मे छपे थे, जिन का उत्तर फिर
दो-तीन लेखो मे दिया था। यह वात सन् १९२८-२९
है। सन् १९३० में द्विवेदी जी ने कही से मेरा पता-
ाना जान कर पहला कार्ड भेजा था, प्रोत्साहन तथा
ोर्वाद दिया था।

इस लेखमाला के वाद एक दूसरी लेखमाला भी मै ने लिखी
ई—'विहारी सतसई और उसके टीकाकार'। इस का मुख्य
। प० पद्मसिह शर्मा द्वारा उद्भावित ('वि० स०' का)
सेद्ध 'सजीवन भाष्य' था। यह लेखमाला पहले 'मावुरी'
निकली—दो-तीन लेख निकले; इसके बाद तीन-चार
'गगा' मासिक पत्रिका मे निकले, पर पूरी न छप पाई।
। में ही छपना वन्द कर दिया मै ने। यह सव क्यों हुआ,
ो आगे मालूम हो जाए गा। इस लेखमाला का भी विद्व-

ज्जनो पर वैसा ही प्रभाव पडा, जैसा कि उस (पहली) लेखमाला का पडा था। 'द्विवद्ध सुबद्ध भवति' प्रसिद्ध है। तब से फिर मुझे लोग भूले नही।

यो मेरी साहित्यिक प्रतिष्ठा उन लेखमालाओं से खूब बढी, परन्तु एक बडा घाटा भी हुआ। कुछ बडे लोग मुझसे रुष्ट भी हो गए और यह रोष एक मण्डली मे भीतर ही भीतर फैल गया। पहली लेखमाला से शास्त्री जी के साथ उन के कुछ घनिष्ठ और लब्धप्रतिष्ठ मित्र भी मुझ से रुष्ट हो गए थे, जिन में मुख्य थे—प० पद्मसिंह शर्मा।

शर्मा जी के प्रति मेरे हृदय मे अत्यधिक सम्मान था, अब भी वैसा ही है। उनके 'सजीवन भाष्य' से ही मैं ने समझा था कि ब्रजभाषा-काव्य मे भी वैसी खूबी है। शर्माजी ही प्रधान साहित्य-महारथियो मे प्रथम थे, जिन के प्रत्यक्ष दर्शन मैं ने कनखल मे ही किए, जब गुरुकुल-कांगडी में काम करता था। वे 'सुधा' के विशेषांक के विशेष सम्पादक होकर लखनऊ (एक विशेषांक का सम्पादन करने) जा रहे थे और प० ईश्वरचन्द्र जी से 'कादम्बरी' पर कोई लेख लिखवाने के लिए आए थे। वे अपने मित्रो के पुत्रो पर भी पुत्रवत् स्नेह रखते थे और यथाशक्य उन्हे आगे बढाने का प्रयत्न करते रहते थे। इस तरह के उन के विशेष स्नेहभाजन जनो की एक मण्डली सी बन गई थी, जो अब भी चल रही है। उस मण्डली में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, प० श्रीराम शर्मा ('विशाल भारत' के 'शिकारी' सम्पादक), मेरे मित्र प०

हरिदत्त शास्त्री एम० ए०, 'सप्ततीर्थ' प० हरिशकर शर्मा आदि प्रमुख है। शर्मा जी का स्नेह मेरे जैसे जनो पर भी रहता था, पर दूसरे दर्जे का। परन्तु ऐसा भी उन का स्नेह कम सौभाग्य की बात न थी। कनखल में ही दूसरे साहित्य-महारथी श्री रामदास गौड एम० ए० के दर्शन हुए, जब वे गुरुकुल कॉंगड़ी मे विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष होकर आए थे। इन दोनो महान् साहित्यकारो की सादगी, स्नेहशीलता तथा विद्वत्ता का प्रभाव मेरे ऊपर पडा। गौड जी का तो प्रथम कोटि का स्नेह मुझे प्राप्त हुआ। ऐसे महान् साहित्यिक गुरुजनों के सस्मरण पृथक् विस्तार से लिखने का विचार है।

मुझे यदि यह मालूम होता कि 'विमला' की आलोचना से प० पद्मसिह शर्मा मुझ से कुछ रुष्ट हो जाएँ गे, तो कदाचित् मैं उस काम मे हाथ ही न लगाता। कम से कम सोचता तो जरूर ही कि क्या करना चाहिए। उन का स्नेह मेरी दृष्टि में साधारण चीज न था। यह भी सम्भव है कि वे मुझ से रुष्ट न हुए हो, केवल अपने मित्र (प० शालग्राम शास्त्री) के प्रति अपनी निष्ठा भर निवाही हो। परन्तु मुझे ऐसा लगा कि वे मुझ से नाराज हो गए है। बीकानेर उन का एकाध पत्र भी मुझे प्राप्त हुआ, पर कही कोई नाराजी का चिह्न न दिखाई दिया। कुछ दिन बाद बीकानेर छोड़ मैं पुन हरिद्वार आ गया और एक स्कूल मे काम करने लगा। तब यहाँ मुझे पता लगा कि शर्मा जी ने मेरी लेखमाला का जवाब दिलाने के लिए यहाँ एक विद्वान् को प्रेरित किया था। वे

चाहते थे और प० शालग्राम शास्त्री भी चाहते थे कि लेख-माला के जवाब मे कोई दूसरा ही लिखे, या जो कुछ लिखा जाए, वह किसी दूसरे के नाम से छपे। यह उन्हें उचित न जँचता था कि मेरे जैसे छोटे आदमी को जवाब शास्त्री जी स्वय दे—'अनुहुकुरुते घनध्वनि नतु गोमायुरुतानि केसरी।' परन्तु शर्मा जी को इस काम मे सफलता न मिली! तब शास्त्री जी ने स्वय ही वे दो-तीन लेख लिख-छपा कर मुझे गौरवान्वित किया!

यह सब जब मुझे मालूम हुआ, तो बुरा लगा। मन मे आया, शर्मा जी को यह सब न करना था, मुझे ही पत्र लिख देना चाहिए था। उन के इस काम से मै रुष्ट हो गया। उस समय मै यह समझने मे असमर्थ रहा कि सारस्वत प्रवाह को रोकना शर्मा जी ने कदाचित् उचित न समझा हो, मेरे ऊपर स्नेह भी तदवस्थ हो और अपने विद्वान् मित्र के प्रति कर्तव्य भी पूरा करना चाहा हो। दोनो बातें सम्भावित है। लडका ही तो था, कुछ का कुछ समझ बैठा! इसी रोष का परिणाम यह दूसरी लेखमाला थी। सब खुलासा न हो, इसलिए नाम रखा था—'बिहारी-सतसई और उसके टीकाकार'। आलोचना भी व्यापक थी, पर मुख्य लक्ष्य था वही 'सजीवन भाष्य।'

'माधुरी' मे इस दूसरी लेखमाला के कई लेख छपने के बाद वृन्दावन-गुरुकुल के उत्सव पर जब शर्मा जी से भेंट हुई, तो वे उसी प्रम से मिले—मन जरा भी मैला नही। उस

समय कविरत्न पं० हरिशंकर शर्मा भी साथ थे। उन प्रकाशित लेखो के कई अशो पर उन्हो ने कुछ चर्चा भी की और कहा कि 'आपने कही-कही अनुचित डक मारा है।' मैं ने कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा, तो बोले 'अब लेखमाला पूरी हो लेने दीजिए।'

परन्तु स्नेहपूर्ण व्यवहार उन का ज्यो का त्यो रहा। इसी समय शर्मा जी ने मुझे चाय पीना सिखा दिया! अब तक प्रात नित्य उनका तर्पण उन्ही के इस पेय से कर रहा हूँ—शायद आगे भी यह नित्य कर्म न छूटे। वृन्दावन से फिर साथ-साथ आगरे तक यात्रा की थी। मथुरा मे प० क्षेत्रपाल शर्मा से उन्हो ने हम सबका परिचय कराया। प० क्षेत्रपाल शर्मा बहुत पुराने साहित्यिक थे, फिर व्यापार मे पड गए थे। तो भी, सरसता न छूटी थी। शर्मा जी 'सैयाँ जी' की दूकान पर बैठ कर कविता सुनने लगे, तो गाडी का समय ही चूक गया। आगरे वे एक ग्रन्थ लिखने जा रहे थे, प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' लिखवा रही थी। सोचा था कि आगरे में कविरत्न प० हरिशकर शर्मा के यहाँ एकान्त मे ठहर कर ग्रन्थ लिखे गे, पर वहाँ एक ऐसी दुर्घटना सामने आ गई कि सब मनोरथ धूमिल पड़ गए। हम लोग आगरे पहुँचे ही थे कि कविरत्न जी एक साइकिल-सवार की हवा से ही धडाम से गिर पडे और भारी चोट खा गए। पीडा के मारे बडे जोर से चिल्लाया करते थे। वैसी अवस्था में शर्मा जी क्या ग्रन्थ लिखते! 'कविरत्न' जी आखर तैमूर बन ही गए।

सो, इन लेखमालाओं से मुझे प्रतिष्ठा का सुख तो मिला, किन्तु अपने बुजुर्गों का स्नेह कुछ कम होने की सम्भावना से दुःख भी हुआ। पर यह दूसरी लेखमाला पूरी न छप पाई। 'माधुरी' में कई लेख निकले। उसी समय प० कृष्ण विहारी मिश्र इस पत्रिका से अलग हो गए। तब मैं ने अपनी लेखमाला, एक रजिस्टरी कार्ड भेजकर, वापस मँगा ली। श्री प्रेमचन्द जी ने 'माधुरी' मे ही छपते रहने के लिए लिखा, पर मैं न माना। लेखमाला वापस मँगा कर 'गगा' को भेज दी। 'गगा' मे कई लेख निकले, पर इसी बीच शर्मा जी का स्वर्गवास हो गया। वज्रपात हुआ! मैंने तार भेज कर 'गगा' मे आगे उस लेखमाला का कोई भी अश न छापने का आदेश दिया। और, श्रद्धाजलि के रूप मे एक लेख लिखा, जो 'गगा में' ही छपने भेजा। वहुत लोगो ने आग्रह किया कि यह लेखमाला जारी रहनी चाहिए, अच्छी चीज है, पर मैं मान न सका। जब सुननेवाला ही न रहा, तो बात कहने का फल क्या!

लेखमाला वापस मँगा कर फाड दी और इसके दो तीन मास बाद—

'गङ्गा' को नोटिस देना पड़ा

यह घटना कदाचित् १९३१ की है, पर प्रसगवश यही बतला दी गई। लेखमाला पर जो पारिश्रमिक ठहरा था, 'गङ्गा' से अब तक न आया था। नाममात्र का पारिश्रमिक था, एक

रुपया प्रति पृष्ठ, कुल इकतीस रुपए बैठते थे। पाण्डुलिपि भेजने से पहले ठहर गया था। सम्पादक जी ने लिखा था कि 'गङ्गा' की स्थिति 'माधुरी' जैसी नही है—एक रुपया प्रति पृष्ठ दे सके गे। मै ने स्वीकार कर लिया था। उस समय पारिश्रमिक की दर ऐसी ही कुछ थी, फिर इतनी लम्बी लेखमाला! मुझे पैसे की परवाह भी न थी। छोटा परिवार था। खाने योग्य पैसे अध्यापन-वृति स आ ही जाते थे। परन्तु ठहराया हुआ पारिश्रमिक जब चार मास तक न आया और 'सम्पादक जी दौरे पर गए हैं' इस तरह की बातें सहायक सम्पादक जी लिखने लगे, तब मुझे गुस्सा आ गया! और सब काम चल रहे है और इस जरा से काम के लिए ये बाते! मै ने रजिस्टरी नोटिस दे दिया। लिख दिया कि "एक सप्ताह के भीतर पारिश्रमिक न आ गया, तो अदालत मे दावा कर दिया जाए गा और अदालती खर्च की जिम्मेवारी भी आप पर हो गी।" नोटिस पहुँचते ही पूरा पारिश्रमिक तार-मनीआर्डर से आ गया। पीछे-पीछे सम्पादक जी का पत्र भी आया कि आप को ऐसा उतावला मै न समझता था। 'गङ्गा' का मेरे पास आना बन्द हो गया, पर जब इस का महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्क—'गङ्गाङ्क' निकला, तो मेरे पास 'सम्मत्यर्थ' भेजा गया। विशेषाङ्क बहुत अच्छी सम्मति के योग्य था ही। एक कार्ड पर सम्मति लिख भेजी और 'गङ्गा' फिर आने लगी। परन्तु फिर कभी मै ने 'गङ्गा' से पारिश्रमिक न ठहराया, न लिया।

हाँ, प्रयाग की 'सरस्वती' से भी पारिश्रमिक के ही प्रश्न पर

उन दिनो मेरा झगडा हो गया था। वहुत दिन तक 'सरस्वती' का आना वन्द रहा और फिर जारी हुआ, फिर वन्द हुआ। ये सव पत्र–पत्रिकाओ के संस्मरण यहाँ दे कर इधर-उधर भटकना ठीक नही है। इतना समझ लीजिए कि किस तरह मै लोगो को नाराज करता रहा!

इस 'प्रथम उन्मेष' की एक घटना यह है कि—

मै 'साहित्य-रत्न' वनने चला था!

वात यह हुई कि वीकानेर मे मेरे उस प्रथम पुत्र का शरीरान्त हो गया, जिसे गोद में ले कर हम लोग 'सुधा' तथा 'चाँद' का अमृत पीने भटकते रहे! इस घटना का ऐसा मर्मान्तिक प्रभाव मेरे ऊपर पडा कि वीकानेर की वह अच्छी नौकरी छोड कर कितने ही दिनो तक इधर-उधर यो ही भटकता रहा! गृहिणी को उस के पितृ-गृह छोड आया था, यह ख्याल कर के कि वहाँ जी वहल जाए गा। मै प्रयाग पहुँचा। यमुना के उस पार, एकान्त स्थान में, 'हिन्दी-विद्यापीठ' जा टिका। पैसे पास थे। आटा-दाल मोल मँगा लेता था, लकडी-ईन्धन इधर-उधर से इकट्ठा कर लेता था और अपने हाथो रोटी वना-खा लेता था। उस समय विद्यापीठ के आचार्य थे मेरे मित्र श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'। छात्र परीक्षाओ के फार्म भर रहे थे। कुछ छात्र 'उत्तमा परीक्षा' के भी थे। वे मुझ से भी मदद लिया करते थे। मै ने सोचा, यो ग्रन्थो का पारायण हो ही रहा है, तो मै भी 'उत्तमा' में क्यो न वैठ

जाऊँ ! मन उलझ-वहल जाए गा, यह बडा लाभ । उन दिनो इस परीक्षा में शास्त्री-आचार्य आदि न बैठ सकते थे ; क्योकि इन परीक्षाओ में हिन्दी का प्रवेश ही न था। परन्तु मैं ने मध्यमा ('विशारद') परीक्षा बहुत पहले पास कर रखी थी। तव 'उत्तमा' मे वहुत कम परीक्षार्थी वैठते थे, और केन्द्र केवल एक था –प्रयाग । 'समीर' जी से सलाह ली । उन्हो ने भी कहा, ठीक है , फार्म भर दीजिए ।

'उत्तमा' का फार्म भर दिया । शुल्क भेज दिया । ग्रन्थ देख गया । परन्तु परीक्षा होने के कोई डेढ मास पहले एक दिन 'सम्मेलन'-कार्यालय से वापस आ कर 'समीर' जी ने कहा— "आप के मौखिक परीक्षक कौन नियत हुए है, जानते है ?" मेरी जिज्ञासा पर उन्हो ने कहा—'श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव उत्तमा के मौखिक परीक्षक नियत हुए है ।' 'समीर' के इस झोके ने मुझे उडा कर परीक्षा से वहुत दूर ले जा कर पटक दिया ! 'मेरे परीक्षक श्रीवास्तव जी ! हद हो गई !' यदि कापियाँ उन के पास जाती, तो भी कदाचित् सह लेता । परन्तु उन के सामने कैसे खड़ा होऊँ गा ! यह सोच कर 'सम्मेलन' पर जल-भुन गया । कार्यालय पहुँचा और देखने के लिए अपना फार्म माँगा । जान-पहचान थी ही । फार्म हाथ मे आते ही मैं ने फाड़-फूड कर उस के टुकडे-टुकडे कर दिए और वे टुकडे फेंक दिए । कार्यालय के कर्मचारी यह सब देखते रहे ! 'तो क्या आप परीक्षा न दें गे ? शुल्क वापस न मिले गा ।' इस के उत्तर मे मैं ने कहा—'शुल्क की

चिन्ता नही, न मिले ।' मै वापस विद्यापीठ पहुँचा, 'नमीर' जी से सब बतला दिया और कई समाचार-पत्रो में भी छपा दिया कि 'उत्तमा' के परीक्षक श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव जैसे लोग होते है, तब इस की क्या इज्जत रहे गी ? बस, फिर मै ने कभी भी 'साहित्यरत्न' बनने की इच्छा न की। विद्यापीठ से ही मै ने पत्र-व्यवहार हरिद्वार के स्कूल मे आने के लिए किया और पुन इस रमणीय स्थान में आ गया। जब मै इस स्कूल मे आया, केवल छठे दर्जे तक यह था। इसी लिए वेतन बिलकुल कम था, ४०) रु० मासिक, जो प्रति वर्ष २॥) रु० की वृद्धि से कुल ६०) तक पहुँचना था। 'म्यूनि० ए० वी० स्कूल'। मुझे वेतन की चिन्ता न थी, हरिद्वार मे रहने की इच्छा थी। सन् १९२९ मे इस स्कूल मे आया और ३० मे स्थायी हुआ, परन्तु इसी समय 'सत्याग्रह' या 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन काग्रेस ने छेड दिया। मै भी कूद पडा, काम किया और सरकारी चेयरमैन मि० ह्यूम ने 'आस्तीन का साँप' तथा 'जोरदार काग्रेस-वर्कर' के खिताब दे कर—

बर्खास्त कर दिया !

साथ ही वेतन भी उस मास का जब्त कर लिया ! अब मै खुल कर काम मे लगा। साथ ही एक पुस्तक—

'रस और अलङ्कार'

इसी समय लिखी, जिस में आदि से अन्त तक, सब के सब

उदाहरण ऐसे गढ कर रखे, जो प्रचलित आन्दोलन को उद्वेलित करने वाले थे। यहाँ तक कि 'शृंगार' तथा 'वीभत्स' रस के उदाहरण भी राजनैतिक पुट के थे। यह पुस्तक 'हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' (ववई) मे तुरन्त छपी और छपते ही ववई-सरकार ने जब्त कर ली! फिर भी, ठहरा हुआ पारिश्रमिक मुझे 'प्रेमी' जी ने भेज दिया। तब 'साहित्य की उपक्रमणिका' नाम की पुस्तक लिख कर भेजी और 'प्रेमी' जी ने ही इसे भी प्रकाशित किया। 'रस और अलंकार' मै ने—

महर्षि मालवीय जी को समर्पित किया था

जव इस पुस्तक की प्रति महर्षि को मै ने भेंट की, तो पढ कर हँसते हुए बोले—"वडा तेज वघार लगाया है, मिर्चों का! जीरा आदि का वघार देते, तो अच्छा रहता।" मै ने हाथ जोड कर कहा—"महाराज, भूतो को भगाने के लिये मिर्चों की ही धूनी ठीक रहती है।" महर्षि मुसकुराने लगे।

एक छात्र की आलोचना कर बैठा!

इस उन्मेष में मुझे अपने एक लेख पर काफी अफसोस रहा! 'वियोगी हरि' जी की 'वीर-सतसई' निकली थी। मै वीर-रस का प्रेमी हूँ और उस समय वीर रस के जो दो मासिक पत्र निकलते थे—आगरे से 'वीर-संदेश' और दिल्ली से 'महारथी'—उन में वरावर कुछ न कुछ लिखा करता था, प्रेम से, कुछ भी उन से लिए विना! 'वीर-सतसई' का

विपय मेरे लिए प्रिय था, पर कविता की दृष्टि से वह मुझे अच्छी चीज न जँची थी। हाँ, कुछ दोहे जरूर अच्छे लगे। इसी समय प० चन्द्रवली पाण्डेय का एक आलोचनात्मक लेख 'सरस्वती' मे छपा। 'वीर-सतसई' के एक दोहे को, न समझ सकने के कारण, पाण्डेय जी ने वहुत रद्दी ठहराया था। शीर्षक था—'वीर-सतसई का एक दोहा।' वस्तुत इस सतसई के चार-छह सर्वोत्कृष्ट दोहो मे वह एक था, जिसे पाण्डेय जी ने सव से रद्दी समझ लिया था। मुझे वुरा लगा और मैंने एक लेख मे उस दोहे की खूवियाँ समझाई, 'सरस्वती' में ही छपने भेज दिया। लेख मे पाण्डेय जी को, काव्य न समझ कर गलत-सलत लिख डालने के कारण, कुछ डाँट वताई थी। मेरा यह लेख छपने के वाद 'सरस्वती'-सम्पादक (प० देवीदत्त शुक्ल) से मालूम हुआ कि उक्त पाडेय जी तो एक छात्र है—हिन्दू विश्वविद्यालय मे एम० ए० में पढ रहे है। मुझे यह जान कर वहुत दु ख हुआ। मन मे आया कि यह होनहार छात्र कही हतोत्साह न हो जाए। मैं ने कभी भी अपने से छोटो को कोई कडा जवाव साहित्य मे नही दिया है, केवल इस लेख को छोड। सो, यह भी अनजाने गलती हुई। मैं ने स्वर्गीय साहित्यकारो पर भी कभी कोई कडी आलोचना नही की है और वर्तमान वुजुर्गो को भी वचा कर चला हूँ—कुछ अपवाद है प० शालग्राम शास्त्री, प० पद्म सिंह शर्मा, सेठ कन्हैया लाल पोद्दार और वावू गुलाव राय एम० ए०। इनकी कृतियो की कडी आलोचनाएँ मैं ने की है,

पर विशेष कारण से। दो के सम्बन्ध में कारणोल्लेख हो चुका है, शेष दो के सम्बन्ध मे आगे बताया जाए गा, जब प्रसग आए गा।

उपसंहार

इस तरह यह प्रथम उन्मेष गया। सन् १९३० मे फिर मै आगरे चला गया था, जहाँ प० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल अपने प्रान्त मे सबसे तेज, आन्दोलन चला रहे थे। पालीवाल, उस समय दूसरे 'सरदार पटेल' हो रहे थे। आपने भी 'नारखी' मे कर-बन्दी आन्दोलन शुरू कर दिया था। उन्ही के साथ मै भी जा जुटा था।

पालीवाल जी प्रान्त में सब से गरम योद्धा थे। उन के सम्बन्ध मे मेरा एक दोहा है, जो 'तरगिणी' मे छपा था—

देखी तो मै गजब की, बिजुरी पालीवाल !
होत गरम अति छनक में, जासो नैनीताल !

नैनीताल उस समय प्रान्तीय अंग्रेजी-शासन की ग्रीष्मकालीन राजधानी थी।

द्वितीय उन्मेष

१९३१-४०

स्वाद वदलने के लिए सन् ३०–३१ की कुछ मजेदार घटनाएँ लीजिए, जिन का सम्बन्ध साहित्य से तो नहीं, पर इस साहित्यिक से सीधा है । इन घटनाओं मे एक लखनऊ-स्टेशन की है, जहाँ मुझे—

एक बहुरूपिए ने तंग कर दिया था !

किस्सा यो है। सन् १९३१ का 'स्वातन्त्र्य-दिवस' आनेवाला था। उस समय 'सरकार' ने हमारी 'स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा' भी जब्त कर ली थी, जो कुछ दिन पहले अपनी रावी नदी के तट पर (लाहौर मे) हमने की थी और जिसे 'स्वतन्त्रता-दिवस' पर सामूहिक रूप से दुहराना था। प्रान्तीय कांग्रेस (लखनऊ) को उक्त प्रतिज्ञा की कुछ छपी हुई प्रतियो की जरूरत थी और पालीवाल के 'सैनिक प्रेस' के अतिरिक्त अन्य कही छपना कठिन था। पालीवाल जी अपनी चार मास की सजा काट कर आ गए थे और बडी चतुराई से आन्दोलन का सचालन कर रहे थे। उस समय नजरबन्दी की बात न थी, दो-चार मास की जेल की सजा होती थी। लोग छूट कर आते थे, फिर जाते थे, यही तरीका था। 'खूब काम करो' मुख्य बात थी।

पालीवाल जी ने छिप-छिपा कर प्रतिज्ञा की कोई पाँच सौ

प्रतियाँ छपवा डाली। अब इन्हे लेकर लखनऊ कौन जाए ! मै भाई महेन्द्र जी के घर में नीचे के एक कमरे मे रहता था। किराया वे कुछ न लेते थे। जो कुछ पास था, खा चुका था। कुछ कर्ज भी हो गया था। चि० मधुसूदन उस समय दो-ढाई वर्ष का था और चि० सावित्री अपनी मा के पेट मे थी। प्रसव-प्रबन्ध के लिए चिन्ता थी। एक काम मिल गया। आगरे के 'प्रकाशक' 'गया प्रसाद एड सन्स' के यहाँ से भाई महेद्र के द्वारा एक पुस्तक लिख देने के लिए फर्माइश आई। रायल्टी १५% ठहरी और उसमे पेशगी मै ने कुल ५०) रु० मँगा लिए, जो तुरन्त आ गए। मै 'काव्य-प्रवेशिका' लिखने की तयारी मे था कि पालीवाल जी ने बुला कर कहा—"बाजपेयी जी, आपको लखनऊ जाना हो गा। 'स्वतत्रता की प्रतिज्ञा' प्रान्तीय कार्यालय मे अवश्य पहुँचाना है। जोखिम का काम है। मामूली आदमी से हो नही सकता।" नेता की आज्ञा थी। स्वीकार की। फिर उन्हो ने समझाया—"देखिए, अमीनुद्दौला पार्क में प्रान्तीय काग्रेस का दफ्तर है। वहाँ जा कर श्री मोहन लाल सक्सेना को ही बडल दीजिए गा, और किसी को नही। वे मत्री है।"

तब पालीवाल जी ने लखनऊ जाने-आने का रेल-भाडा दिया और समझा दिया कि खद्दर के कपड़े मत पहन जाइए गा। प्रतिज्ञा-पत्रो का बँधा हुआ बडल मै ने लिया और कपड़े में लपेट कर तकिया की तरह बना लिया। घर आ कर खूब अच्छी तरह हिफाजत से बिस्तर मे बाध लिया। गृहिणी को

वे ५०) रु० दे दिए और मैं लखनऊ चल पडा। लखनऊ का सब काम कर के मैं स्टेशन पर आया, गाडी की प्रतीक्षा में था, टिकट मिलने ही को थे कि एक सज्जन बेत हिलाते हुए मेरी ओर आते दिखाई दिए। धोती, खाकी कमीज और सिर पर दुपल्ली टोपी। पुलिस का सिपाही मैं ने समझा। मेरे पास ही आ कर आप बोले—

"चलिए, आप को कोतवाल साहब बुला रहे हैं।" मैं ने समझा कि कुछ भेद खुल गया! बुरे मौके गिरफ्तार हुआ! प्रसव-काल निकल जाता, तो ठीक रहता। पर अपना बस क्या था! सोचा कि पूछूं, बात क्या है। पूछा भी। उसने कहा—"मुझे कुछ पता नही, आप जल्दी चलिए। न चलना हो, तो वैसा कहिए।" उस समय प्रत्येक सिपाही बादशाह था! झगडा बढाना वहाँ ठीक न समझा और चलने के लिए उठ खडा हुआ। त्यो ही उसने झुक कर बडे अदब से सलाम किया "जय हो महाराज!" अब दिमाग हलका हुआ। एक इकन्नी निकाल कर उसके सामने की, तो कहने लगा—"हुजूर, कितनी मुसीबत से बच गये और एक इकन्नी!" किसी तरह आफत टली!

'दही-बड़े' की बात

एक दिन 'टाउन हाल' के सामने बहुत बडी सभा "भगत-सिंह-दिवस" मनाने के लिए जमी। पुलिसवाले रिपोर्ट लेने आते थे, तो उन की रक्षा के लिए एक पूरा सशस्त्र दस्ता सुसज्जित

रूप मे साथ आता था। सभा मे खूब व्याख्यान हुए। मै भी बोला, वरन बोल ही रहा था कि एक जोर का धडाका हुआ! भगदड मच गई। पुलिसवालो ने कई भागनेवाले काग्रेसियों को वही पकड लिया। सभा इसी भगदड में विसर्जित हो गई। पकडे हुए व्यक्ति हवालात में बन्द कर दिए गए। बाद में जाँच-पड़ताल हुई, तो पता लगा कि वहाँ पक्के फर्श पर किसी ने पटाखा रख दिया था, जो दब कर फूट गया था! इस जाँच के बाद वे सब 'क्रान्तिकारी' छोड दिए गए, जो पकड लिए गए थे! इस घटना के वर्णन में एक कविता मै ने उसी समय लिखी, जो 'सैनिक' मे छपी थी। वह यो है—

उरद की दारि दरि बीबी ने बनाए बरे,
दही में सराए तौ कठौता भूरि भरि गो!
भए पेट-भेंट, मैं ने दाबि-दाबि भरे निरे,
गरे लौं गरीब पेट मसक सो भरि गो!
हाय अधरातक अचरजु महान भयो,
उमड़ि–घुमड़ि पौन भड दै निकरि गो!
काहू ने रपोट करी, आयो कोतवाल धाय,
पकरि कै मोहिं कह्यो—बम्म कितै फटि गो?

वह समय ही ऐसा था! फिर 'भगतसिंह दिवस'-।

फिर हरिद्वार वापस

इसी समय 'गान्धी इर्विन - पैक्ट' हुआ, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि जिन लोगो को आन्दोलन में भाग लेने के कारण

सरकारी नौकरी से वर्खास्त कर दिया गया है, उन्हे वापस फिर (नौकरी मे) ले लिया जाए गा। इस सुविधा का फल मुझे भी मिला। मै पुन हरिद्वार आया। श्रीमती जी अब चि० सावित्री को गोद मे लिए थी। हरिद्वार आकर मै ने अपनी नौकरी से बचा हुआ समय साहित्य-सेवा मे उतना न लगा कर समाज-सुधार के कामो मे लगाना शुरू कर दिया। तीर्थ-सुधार के कुछ ऐसे काम किए कि तीर्थ-पुरोहित (पडे) नाराज हो गए। हरिजन-उद्धार के लिए भी कुछ किया। आगे चल कर 'हरिजन-सेवक सघ' की जिला कमेटी का दो वर्ष तक मत्री भी रहा—जिस से कि यहाँ के 'अतिसनातनी' लोग अति नाराज हो गए। फिर सन् १६३८ मे कुम्भ के महान् मेले पर तो एक बहुत बडा काम मै ने अपने सिर ले लिया, जिधर किसी ने कभी ध्यान ही न दिया था।

साधुओ मे एक फिरका 'नागा' लोगो का भी है। नागा साधुओ के 'निरजनी' 'निर्वाणी' आदि अखाडे करोडो की सम्पत्ति रखते है। इनके अखाडो का प्रबन्ध पचायती (जन-तत्रात्मक) है, बडा सुन्दर। यह जनतन्त्र-प्रणाली इन की बहुत पुरानी है, अग्रेजो से सीखी हुई नही है। अखाडो का प्रबन्ध करने के लिए जो कोठारी-सेक्रेटरी आदि ('महन्त') पचायत द्वारा नियुक्त होते है, उन्हे दस-दस या पन्द्रह-पन्द्रह रुपए मासिक जेब-खर्च के लिए मिलता है—जमा-खर्च के काम लाखो के करते है। कोई चुरा-छिपा कर बचा ले, यह और बात है। परन्तु शिकायत होने पर पच गुप्त जाँच कराता है और शिकायत

सही होने पर अपराधी बुरी तरह निकाल दिया जाता है। यदि टट्टी फिर कर अपराधी आया है, तो निर्वासन की आज्ञा होते ही वह अखाडे के बाहर जाकर हाथ धोए गा! फिर उसे अपने 'आसन' पर भी नही जाने दिया जाता। मेरे सामने इस तरह के कई निर्वासन हुए है। नागा साधुओ मे कितने ही शिक्षित भी है। आजाद साधुओ की अपेक्षा इन मे कुप्रवृत्तियाँ भी कम है। परन्तु इन की एक प्रवृत्ति मुझे बहुत भद्दी लगी कि कुम्भ के मेले पर ये लोग कपडे उतार कर एकदम 'दिगम्बर' हो जाते है और जमात के रूप मे गाजे-बाजे के साथ स्नान करने जाते है। एक लँगोटी भी लगाए रहे, तो भी ठीक!

सन् १९३८ का हरिद्वार-कुम्भ आने को था। मै ने नागा साधुओ की इस प्रथा का विरोध करने का निश्चय किया। चर्चा शुरू की। सनातनी नेता प० गणेशदत्त गोस्वामी से जिक्र किया, तो वे कन्धा डाल गए! बोले, "यह सब ठीक तो नही, पर बहुत पुरानी प्रथा है। मिटाना भी ठीक नही।"

आर्यसमाजियो से बात की, तो उन्हो ने कहा—"भाई, यह तो सनातनी लोगो का अपना घरेलू काम है। हम लोग क्या करें।"

यही नहीं, आगे जब मै ने आन्दोलन चला कर इस प्रथा का घनघोर विरोध किया, तो आर्यसमाज के पुराने नेता और हमारे हिन्दी-जगत् के महारथी प० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने नागा साधुओ का तथा उन की इस प्रथा का समर्थन किया, जिस से

हमारे आन्दोलन को धक्का लगा और उन्हे बल मिला।

मेरे इस आन्दोलन के समर्थन मे राजर्षि टंडन तथा पं० जवाहर लाल नेहरू आदि नेताओ ने पत्र लिख कर भेजे थे, जिन्हे मै ने प्रकाशित करवा दिया था। इन पत्रो से मेरे काम को बल मिला। इतने जोर का आन्दोलन हुआ कि नागा साधुओ मे नित्य ही इस पर विचार-विमर्श होने लगा। परन्तु अधिक सख्या उन की थी, जो किसी भी तरह अपनी यह प्रथा छोडने के पक्ष मे न थे। सैनिक-प्रवृत्ति नागा साधुओ मे आदि से ही है। तलवारे और भाले चमचमा रहे थे।

इधर मै ने सत्याग्रह करने की घोषणा कर दी थी। जनता मे तरह-तरह की चर्चाएँ फैल रही थी। काग्रेसी भाई बिलकुल तटस्थ थे, पर टंडन-नेहरू आदि के पत्र प्रकाशित हो जाने से यह कहा जा रहा था कि काग्रेस यह सब करा रही है और लखनऊ से पाँच या दस हजार स्वयसेवक सत्याग्रह करने आनेवाले है। प्रान्त में कागेसी मत्रिमडल था और उस समय कुछ डर भी पैदा हो रहा था। यही कारण है कि मेरी जान बची रही। फिर भी, मुझे बहुत सावधान रहना पडता था।

जैसे-जैसे मेला समीप आता जाता था, तीर्थ-पुरोहितो में बेचैनी फैल रही थी! मेला-आफिसर दफा १४४ लगाने की सोच रहे थे। नित्य ही 'भले' लोग मेरे पास आते थे और मेले पर सत्याग्रह न करने को कहते थे। नागा साधुओ में एक अच्छे सन्त है—स्वामी चन्द्रशेखर गिरि जी। सस्कृत के अच्छे विद्वान् है, राष्ट्रीय प्रवृत्ति के है, बहुत कुछ काम भी किया

है। किसी समय हम दोनों साथ-साथ रहे-पढे है। वे एक दिन आए और वोले—"मेरी वात आप मानिए। मेले मे कोई सत्यागह जैसा काम न कीजिए। मेला तो खराव हो ही जाए गा, खून-खरावी भी हो सकती है। इतनी प्ररूढ प्रथाएँ इस तरह नही उडाई जा सकती है। वैसे कुछ लोग आपकी वात पर सोच-विचार कर रहे है।"

स्वामी जी की वात मै ने मान ली। अखबारो में सूचना छपा दी कि मेले मे सत्याग्रह न किया जाए गा, न और किसी तरह से विरोध-प्रदर्शन हो गा। इस सूचना से वातावरण एकदम शान्त हो गया। मै ने भी सुख की साँस ली। तरह-तरह की कल्पनाएँ प्रतिक्षण उठा करती थी!

मेला समाप्त हुआ। हरिद्वार म्यूनि० वोर्ड मे अवतक चेयरमैन सरकारी आफिसर (रुडकी के सव डिवीजनल आफिसर) हुआ करते थे। काग्रेसी मत्रिमडल ने निर्णय दिया कि वोर्ड में गैर-सरकारी चेयरमैन हो। काग्रेस ने एक तीर्थ-पुरोहित (सरदार प० रामरक्खा शर्मा) को टिकट दिया और वे वोर्ड के चेयरमैन हुए। सरदार साहव ने पद सँभालते ही एक 'परिपत्र' छपा कर प्रकट किया कि हम रिश्वत आदि वुराइयाँ हटाएँ गे।

मै ने सोचा कि अपना मंत्रिमडल और अपना वोर्ड, अपना चेयरमैन, वडा अच्छा अवसर है वुराइयाँ दूर करने के लिए। मै ने मदद पहुँचाने का निश्चय किया। 'क्रान्ति' नाम का एक छोटा-सा स्थानीय साप्ताहिक पत्र निकलवाया। मैं

तो वोर्ड के हाई स्कूल में अध्यापक था , प्रत्यक्ष कुछ कर न सकता था, इस लिए नाम के सपादक बने प० कल्याणदत्त शर्मा और काम सब मेरे जिम्मे। 'क्रान्ति' के द्वारा रिश्वतखोरी के विरुद्ध धुंआधार आन्दोलन मैं ने शुरू किया। रिश्वतखोर अधिकारी तथा मेवर तिलमिला उठे। अनेक मेवर चेयरमैन साहव की पार्टी के ही वैसे थे। चेयरमैन साहव ने मुझे वुला कर समझाया , परन्तु छोडे हुए तीर को मै वापस न ले सका। तव "डिस ओवीडिएट" कर के मुझे वर्खास्त कर दिया गया।

काग्रेसी-मन्त्रिमडल था, मै ने अपील की। अपील नियमानुसार भेज दी गई। फिर मै लखनऊ गया और सेक्रेटरिएट मे श्री विजयलक्ष्मी पडित से भेट की। उस समय आप स्वायत्त-शासन की मिनिस्टर थी और खेर साहव आपके पार्लमेंटरी सेक्रेटरी थे। दोनो के कमरे वरावर-वरावर थे, वीच मे एक पर्दा पडा था। श्रीमती पडित से मेरी वात-चीत यो हुई—

"कहिए, क्या वात है ?"

"मै हरिद्वार म्यूनि० वोर्ड के हाई स्कूल में अध्यापक था। वोर्ड मे साधुओ का तथा तीर्थ-पुरोहितो का जोर है। मै ने कुछ समाज-सुधार के काम वहाँ किए , इस से वे लोग नाराज हो गए और मुझे नौकरी से अलग कर दिया।"

—"तो आप समाज-सुधार के काम करते है, या वच्चो को पढाते है ?"

"वच्चो को तो पढाता ही हूँ और इस काम मे ९९%

सफलता परीक्षा-परिणाम बता देते है , पर अपने बचे हुए समय का उपयोग मै ट्यूशन आदि में न कर के कुछ समाज-सुधार के कामों में लगाता हूँ ।"

"आप समाज-सुधार के काम करते ही क्यो है ? किस ने कहा है ?"

"आप ही लोग वैसा कहते है कि अध्यापको को समाज-सुधार के कामो में मदद करनी चाहिए ।"

"मै ने कब वैसा कहा है ?"

"आप ने तो नही, पर प० जवाहर लाल नेहरू ने तो सैकडो बार वैसा कहा है ।"

"तो फिर उन्ही के पास जाइए ।"

"उनके ही पास पहुँचता, यदि वे प्रान्त के स्वायत्त-शासन-मत्री होते ।"

"अच्छा, तो कहिए, क्या काम आप ने समाज-सुधार के किए ?"

"हरिजन-अभ्युत्थान आदि के काम करता रहता हूँ और सबसे बडा काम पिछले हरिद्वार-कुम्भ मेले पर नागा साधुओं के बारे में आन्दोलन किया कि वे एकदम दिगम्बर हो कर न निकला करें, कमसे कम एक लँगोटी तो जरूर लगाए रहा करें ।"

"ऐसा आप ने क्या समझ कर किया ?"

"यह समझ कर कि हमारी नागरिक व्यवस्था के विपरीत वैसा प्रदर्शन पडता है और लोग उसे अच्छा नही समझते है ।"

"आप ने यह कैसे समझा कि नागा साधुओ के उस प्रदर्शन को लोग अच्छा नही समझते ?"

अब मै जल-भुन गया। प० जवाहर लाल नेहरू की बहन ने यह कहा! मै ने आँखे तो नीचे कर ली और अत्यन्त गम्भीरता से निवेदन किया—

"मै ने पुरुष-वर्ग के तो सहस्रो व्यक्तियो से चर्चा की, सब ने इस से असतोष प्रकट किया। टडन जी ने तथा नेहरू जी ने भी वैसा ही कहा, परन्तु मै ने स्त्रियो से नही पूछा कि वे उसे कैसा समझती है। हाँ, मेरी स्त्री तो वैसे प्रदर्शन को ठीक नही समझती है।"

इतना कह कर मै ने आँखे ऊपर की, तो देखा कि श्रीमती पण्डित का गौरवर्ण वदन एकदम अरुण हो गया है और आँखों मे भी वही रग। बोली—

"आप से मेरी कतई सहानुभूति नही है और आप को हर्गिज बहाल न किया जाए गा।"

अब और कुछ बोलना मै ने बिलकुल ठीक न समझा। कुर्सी से उठा और हाथ जोडकर 'नमस्ते' करता हुआ दरवाजे से बाहर चला आया।

उस समय टडन जी बीमार थे। पुरी से जलवायु बदल कर तुरन्त वापस आये थे। लोग मिलने कम पाते थे। मेरा ध्यान उधर ही था। परन्तु शिमला-'सम्मेलन' मे मै एक मामले मे उन्हे बहुत तग कर चुका था—नाराज हो गये थे वे। कई घटे झमेले मे लग गए थे, मेरी एक वैधानिक जिद के कारण।

पर, और जाता भी कहाँ ? गया, और सब हाल वताया, तो वहुत नाराज हुए। बोले, तुम वहाँ इस तरह गए क्यो ? फिर अपने सेक्रेटरी से कहा—फोन पर खेर को वुलाओ। लठिया टेकते हुए आप फोन पर गए—

"हाँ, खेर है न।"

"जी, प्रणाम।"

"आप झासी म्यूनि० बोर्ड को छोड आए, तव से उसकी क्या दशा हो रही है। वहुत गडवड है। और देखिए, हरिद्वार से पडित किशोरीदास वाजपेयी का कोई केस आया है क्या ? फाइल आपने देखी ?"

"जी, फाइल देखी है। चेयरमैन, कमिश्नर तथा हमारे (गवर्नमेंट) सेक्रेटरी ने भी वुरा ही वुरा लिखा है।"

"वह तो लिखेगे ही, पर आप ने भी कुछ देखा ?"

"मै तो कुछ सोच नही पाया हूँ, पर वाजपेयी जी अभी थोडी देर पहले यहाँ आये थे और मिनिस्टर साहिवा से मिले थे। कुछ ऐसी बाते की, जिस से कि वे वहुत नाराज हो गई है।"

"वाजपेयी तो जैसे वुद्धिमान है, हमे पता है, परन्तु विजयलक्ष्मी को आज क्या हो गया ? क्या भाग पी कर आई है ? जिस कुप्रथा के विरुद्ध आज तक कोई वोला न था, उस का इतना कडा विरोध जिस व्यक्ति ने किया, उसे शावासी देनी चाहिए कि वैसी वातें करनी चाहिए ? मै समझता हूँ— विजयलक्ष्मी ने हँसी मे वैमा कुछ कहा हो गा, जिसे संस्कृत के

पण्डित वाजपेयी न समझ सके हो गे और अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ कह दिया हो गा।

खैर, देखिए, इस मामले की छान-बीन करनी चाहिए, क्योंकि यह साधारण केस नही है, राष्ट्रीयता का सवाल है। सचाई जानकर ही कोई निर्णय देना चाहिए।"

"ठीक है, अच्छी वात है।"

फोन रख कर अपनी खाट पर आ बैठे, कुछ 'सम्मेलन' की वातें की और कहा कि "अव तुम हरिद्वार चले जाओ, यहाँ इस तरह वेकार घूमना-फिरना ठीक नही।"

मै हरिद्वार आ गया। तव तक 'हाई कमाड' का हुक्म हो गया—"जरूरी काम निपटा कर काग्रेसी मन्त्रिमडलो को त्याग-पत्र दे देना चाहिए।"

इन जरूरी कामो में मेरा केस भी आ गया। कुछ ही दिनो मे सरकारी आदेश वोर्ड को आ गया और चेयरमैन साहव ने एक पर्चा भेज कर मुझे सूचना दी कि सरकार ने आप की अपील मजूर कर ली है, इस लिए अपना काम आकर सँभाल लीजिए।

मुझे दस महीने का वेतन देने के लिए भी वोर्ड को सरकारी आदेश था। अपील मे दस महीने लग गए थे। सन् १६३० में वर्खास्त करते समय जो वेतन मेरा जब्त कर लिया गया था, उसे भी लौटा देने का आदेश था। इस तरह मुझे काफी पैसा मिल गया। इस पैसे से मैने एक छोटा-सा प्रेस नीलाम में खरीद लिया, डेढ-दो-सौ रुपए और मिलाने पडे, कर्ज ले कर।

मैं ने कागज मे प्रेस की मालकिन अपनी स्त्री को वना दिया। अनेक झझटो से वचने के लिए। आगे चल कर अनुभव हुआ कि अनुभव न हो, तो प्रेस प्रेत बन कर खाने लगता है। वाहरी काम के अभाव में खुद ही कुछ लिख कर देने लगा और यो इस समय १—'द्वापर की राज्य क्रान्ति' तथा २—'लेखन-कला' ये दो पुस्तकें तयार हो गई। 'द्वापर की राज्य-क्रान्ति' एक पौराणिक नाटक है, कल्पना-मधुर , पहले 'सुदामा' नाम से 'गगा पुस्तक-माला' मे निकल चुका था। इस नाटक के सम्बन्ध में डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने 'पुस्तक-साहित्य' नाम के विवरण में यो लिखा है —'द्वारकावासी कृष्ण को लेकर केवल एक कलात्मक रचना इस काल में मिलती है, वह है प० किशोरीदास वाजपेयी कृत 'सुदामा'।' यही 'सुदामा' अपने प्रेस से 'द्वापर की राज्य क्रान्ति' नाम से मैं ने प्रकाशित कराया। 'सुदामा' नाम से वस्तु स्पष्ट न होती थी, इस लिए नाम नया दिया।

'लेखन कला' अपने विषय की हिन्दी में पहली ही पुस्तक प्रकाशित हुई। भाषा-परिष्कार इसका मुख्य विषय है। यद्यपि हिन्दी के नौनिहालो के लिए यह छोटी सी पुस्तक लिखी गई थी , परन्तु वडे-वडे साहित्य-महारथियो ने इससे वहुत कुछ सीखा-समझा और यह उन्हो ने स्वत स्वीकार कर के अपने औदार्य्य का परिचय दिया। आजकल के छोकरे 'डाक्टर' तो सव कुछ सीख-समझ कर डकार जाते है और क्लास मे अपने छात्रो के सामने इस तरह उन्हीं वातो को प्रकट करते है, जैसे कि

इन्हो ने ही अनन्त मनन-तप कर के इन चीजो को ढूंढ निकाला हो!

"लेखन कला" ऐसी चीज निकली कि 'सम्मेलन'-परीक्षाओ के दुर्गम दुर्ग मे भी पहुँच गई! इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई पुस्तक आज तक 'सम्मेलन' की किसी भी परीक्षा मे कभी नही चली। परन्तु जब दो बिल्लियो के 'मै हू' या म्याऊँ-म्याऊँ के झगडे मे एक बन्दर आ बैठा, तब 'लेखन-कला' को धक्का मिल गया! जो भी हो, प्रेम के आदमी खाली न बैठे रहे, इसलिए कुछ लिखना पडा और इस बेबसी के काम मे 'लेखन कला' ऐसी चीज निकली कि जिसने हिन्दी के शब्द-विश्लेषण-क्षेत्र मे एक युगान्तर उत्पन्न कर दिया। आगे 'लेखन कला' के प्रभाव से अनुप्राणित हो कर काशी के विद्वद्वर बाबू रामचन्द्र वर्मा ने 'अच्छी हिन्दी' लिखी, जिस के परिष्कार मे 'अच्छी हिन्दी का नमूना' मै ने लिखा। यह 'नमूना' हिन्दी-शब्दशास्त्र की बेजोड कृति है, क्योकि हिंदी-प्रयोग के जटिल से जटिल विषय को सुलझाने का प्रयत्न इस में किया गया है। इस से पहले 'व्रजभाषा का व्याकरण' निकल चुका था, सन् १९४३ मे ही, जिस के भूमिका-भाग ने हिन्दी-व्याकरण की धारा ही बदल दी! परन्तु ये सब बाते तो अगले उन्मेष मे कहने की है, प्रसगवश कुछ कहा गया।

प्रेस बेंचना पड़ा !

इन झझटो मे प्रेस मुझे बेच देना पडा—प्रेस के कामो मे अनभिज्ञता, कर्मचारियो पर और काम पर देख-रेख न होने

से घाटे पर घाटा, अंग्रेजी सरकार द्वारा तग करने की नियत का वार-वार प्रकट होना। प्रेस पर पुलिस ने कई मुकदमें चला दिए, केवल मुझे तग करने के लिए। मेरे प्रेस के मैनेजर प० कल्याणदत्त शर्मा को पुलिस ने फोड लिया और इन से झूठी गवाही दिलवाई। उस समय उक्त शर्मा जी कनखल-कांग्रेस के मत्री थे। कई वातो में इन्हो ने प्रेस को धोखा दिया। 'द्वापर की राज्य क्रान्ति' नाटक जव छपा, तो दो प्रतियाँ नियमानुसार जिला मजिस्ट्रेट को इन्हो ने नही भेजी और मुझ से कह दिया कि भेज दी है। मै ने पूछा, रजिस्टरी पैकेट से भेजी है न ? वोले-- नही, साधारण पैकेट से भेज दी है। मै ने सोचा, कदाचित् डाक की गडवडी से पैकेट न पहुँचा, या और कोई वात हो गई, तो मामला वन जाए गा। 'सरकार' तो हाथ धोकर पीछे पडी ही थी। सो, मै ने चुपचाप उक्त पुस्तक की दो प्रतियाँ 'प्रोप्राइटर' की ओर से सहारनपुर के जिला मजिस्ट्रेट को रजिस्टरी पैकेट से भेज दी। यह वात मै ने मैनेजर से न कही। मैनेजर ने पुलिस को सूचना दे दी कि पुस्तक छपी है और प्रतियाँ नही भेजी गई है। कई वार गडवडे देख इस समय मै ने मैनेजर को हटा दिया था। पुलिस ने जिला मजिस्ट्रेट के प्रेस-विभाग मे जाँच-पडताल भी न की और (जिला-मजिस्ट्रेट की अनुमति से) प्रेस पर मामला चला दिया कि उक्त पुस्तक की दो प्रतियाँ नही भेजी गई है। जाँच-पडताल करने की जरूरत क्या, जवकि भेजनेवाला (मैनेजर) स्वयं ही कह रहा है कि प्रतियाँ नही भेजी गई है! इस मामले में कोई मात-

आठ पेशियां पड़ीं। मजिस्ट्रेट जब दौरे पर होता था, तब तारीख रखवाई जाती थी कि मैं देहात में, जेठ की दुपहरी में, मारा-मारा फिरूँ! अन्तत जिला-मजिस्ट्रेट के प्रेस-क्लर्क को मैं ने गवाह के रूप में तलब किया, पर वह न आया। कड़ाई करने पर अगली तारीख पर पेश हुआ, रजिस्टर साथ में लिए हुए और उस पुस्तक की प्रति भी लिए! तब मामला खारिज हुआ, पर मैं तो इन पेशियों में ही पिस गया था! विशेष मुसीबत यह कि इस समय मैं खाली बैठा था।—कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने ज्योंही त्याग-पत्र दिया और उत्तरप्रदेश के स्वायत्त शासन-विभाग के 'एडवाइजर' डा० पन्नालाल हुए कि मुझे पुन अध्यापकी से बर्खास्त कर दिया गया! इस समय बोर्ड मुअत्तल, था, अपने कुकर्मों के कारण, और एडमिनिस्ट्रेटर, एक अंग्रेज आई० सी० एस० था। सो, इन्हीं सब झंझटों में प्रेस बेच दिया और वह रुपया रोटी-दाल के काम में कुछ दिन तक लगता रहा।

साहित्य-महारथियों के दर्शन

इस द्वितीय उन्मेष में कई साहित्य-महारथियों के दर्शन हुए, जिनमें बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य द्विवेदी तथा बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' मुख्य हैं। जब मैं सन् १९३१ में आगरे रह कर कांग्रेसी हलचल में जुट रहा था, बाबू श्यामसुन्दर दास के दर्शन हो गए! एक दिन बाजार में देखा, बाबू हरिहर नाथ टंडन एम० ए० जोर से लपके जा रहे हैं! 'नमस्ते' करके

झपाटे से आगे बढने लगे, तो मैं ने रोक कर इस हड़बडी का कारण पूछा। बोले—"वाबू जी आए है। उन के लिए तमाखू लिए जा रहा हूँ।"

"कौन वाबू?" मैं ने प्रश्न किया।

"वावू श्यामसुन्दर दास, मेरे गुरु है।"

"ठीक! कब आए?"

"कल आए। विश्वविद्यालय के मौखिक परीक्षक है। उसी सिलसिले से आए है। परीक्षा लेनी है।"

"क्या तमाखू वे पीते है?"

"हाँ, बहुत पीते है। हरदम हुक्का गरम रहता है। दिन भर मे सेर भर तमाखू पी जाते है। घर में रही नही है, सो लेने आया था। चलिए, मिल आइए न!"

वावू साहब के प्रति मै पहले से ही श्रद्धावान् था। उन की हिन्दी-सेवाओ से वृन्दावन में ही (सन् १९१५–१६ मे) थोडा-बहुत परिचित हो चुका था, आगे तो बहुत कुछ जाना-समझा। दर्शन करने के लिए उत्सुकता स्वाभाविक थी, परन्तु एक झिझक भी थी। इस से बहुत पहले ही उन का 'साहित्यालोचन' प्रकाशित हो चुका था और उसी समय उनके कला-वर्गीकरण पर मैं ने एक लेख लिख कर प्रकाशित कराया था। कला की उत्तमता का आधार उन्हो ने आधार की सूक्ष्मता बताया था। मैं ने इस का खडन कर के मनोभावो के उद्वेलित करने की शक्ति को ही आधार ठहराया। और उन्हो ने स्वर्णकारी को 'उपयोगी कला' बताया है, जिसे मैं ने अनुपयोगी

(केवल रजक) कला माना । काव्य को वावू साहव ने उपयोगी कलाओ मे नही रखा था । मैं ने इस का भी खडन किया था और काव्य को परम उपयोगी कला वतलाया था । मेरे तर्क तथा विचार आज भी वैसे ही है । मेरे मन मे आया कि मेरा वह लेख वावूजी ने पढा हो गा, तो सम्भव है, नाराज हो ! तव वहाँ जाना ठीक नही । फिर सोचा कि प० पद्मसिंह शर्मा के भी साहित्यिक विचारो की आलोचना मैं ने की है , पर इस से वे तो नाराज वैसे हुए नही, मन में चाहे कुछ वैसी वात थोडी-वहुत हो भी । वावू जी भी पुराने महारथी है, वैसा ही वात्सल्य इनमें भी हो गा । यह भी सोचा कि सम्भव है, मेरा लेख पढा ही न हो ! और फिर सोचा कि नाराज भी वे हो गे, तो क्या वात है ! हिन्दी का असीम उपकार जिस व्यक्ति ने किया है, उसकी नाराजी सहने मे भी सुख है— 'कालागुरो हि कटुताऽपि नितान्तरम्या ।' काले अगर का धुआँ कुछ कडवा होता है , परन्तु उस कडवाहट मे ही तो मजा है । यह सव लिखने में इतनी देर लगी , पर सोचने मे एक सेकेंड लगा हो गा । मैं टडन जी के साथ चल पडा ।

लम्वे-लम्वे डग टंडन जी के पड रहे थे और मैं उन के साथ खिचा चला जा रहा था ! घर पहुँचा, जीने से ऊपर चढा । कमरे में वावू जी खाट पर लेटे हुए थे और उनका हुक्का कमरे के वाहर रखा था, जिस में रवर की वहुत लम्वी नली लगी थी, जो कुण्डलित हो-हो कर भीतर वावूजी की खाट तक पहुँची थी । कमरे में पहुंचते ही मैं ने हाथ जोड कर प्रणाम किया और टडन

जी ने मेरा नाम उन्हे बताया। मैं कुर्सी पर बैठ गया। टडन जी उनकी शुश्रूषा मे लग गए। थोडी देर बैठा रहा। जब बाबूजी ने मुझ से कोई बात न की, तब उन के आराम मे दखल देना मैं ने उचित न समझा और उठकर प्रणाम किया, कमरे के बाहर आया। मुझे पता नही कि बाबू जी की प्रकृति ही ऐसी थी, या कि वे मुझ से अप्रसन्न थे ! सम्भव है, मेरी कोई चीज उन के सामने आई ही न हो और उन्हें यह भान ही न हो कि यह भी मेरे ही पद-चिह्नो का अनुगामी है—हिन्दी का ही एक पुर्जा है ! जो भी हो, मैं कुछ विशेष निर्णय न कर पाया , परन्तु 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' के प्राणो का दर्शन भी क्या कुछ कम मेरे लिए था ?

बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'

'भानु' जी के दर्शन भी मै ने इसी उन्मेष में किए , यद्यपि आप की रचनाओ से प्रभावित बहुत पहले हो चुका था। इस से पहले ही मै ने और 'समीर' जी ने अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद के लिए आप का नाम प्रस्तावित किया था, कुछ लिखा-पढा भी था , परन्तु, नक्कारखाने मे तूती की आवाज कौन सुनता है !

मध्यप्रदेश की सरकारी सर्विस मे मेरे श्वशुर प० कन्हैया लाल मिश्र थे और वे उस समय बिलासपुर बदल कर आए थे। मै अपनी स्त्री को लेने गया था। मालुम हुआ कि 'भानु' जी यही है, जिन की किरणो ने हिन्दी-जगत् के छन्द-क्षेत्र के तम

तोम को वहुत पहले नण्ट कर के सदा के लिए प्रकाश पैदा कर दिया है।

"भानु प्रेस" पहुँचा ग्रौर फिर 'भानु'-भवन। खवर पहुँची ग्रौर तुरन्त सामने आते हुए एक साहित्यिक ऋषि दिखाई दिए—सौम्य गौर वदन, सुन्दर शारीरिक गठन, वुढापे मे भी सयम-दृढ स्वास्थ्य ग्रौर सफेद वस्त्रो को छूती हुई उसी रग मे लम्वी घनी दाढी। मैं ने समझ लिया—'भानु' जी ही है। आते ही प्रणाम किया, जिस के उत्तर मे उन्हो ने भी हाथ जोड दिए। "कहाँ से आये है, नाम क्या है" प्रश्न हुआ। उत्तर के अक्षर सुनते ही 'भानु' जी का सुशीतल वात्सल्य छलक पडा, जैसे हिमभानु की चाँदनी छिटक पडी हो। वडे प्रेम से भीतर ले गए, अपने निजी कमरे मे। पुस्तको की ही सजावट थी। भानु जी पिङ्गल को अपना गुरु मानते थे, पर मै समझता हूँ, आचार्य पिङ्गल की पिङ्गल छटा को अपने प्रभाव से भानु जी ने अतिशय शुभ्र कर दिया था। छन्द-शास्त्र मे 'भानु' जी ने हिन्दी की सेवा कर दी, सो कर दी। वह इतनी पूर्णता है कि आगे कुछ करना वाकी ही न रहा। उस समय गणित के मनोरजनो से भानु जी मन वहलाया करते थे, कई पुस्तके लिखकर प्रकाशित कराई थी, जो स्नेह पूर्वक प्रसाद-रूप मुझे दी। फिर अपनी छोटी-सी पौत्री को वुलाया ग्रौर गीत गाने को कहा। उस नन्ही वालिका ने तोतले कण्ठ से जो मधुर गीत गाया, वह कदाचित् 'भानु' जी का ही वनाया हुआ था—'हाय हाय! नौकरी वुरी' से प्रारम्भ हुआ

था और एक अद्भुत् दैन्य का उसमे चित्रण था। 'भानु' जी सरकारी नौकरी मे थे और असि० सेटलमेंट कमिश्नर के पद से अवकाश ग्रहण किया था, कई सौ रुपये मासिक पेंशन पाते थे। 'भानु' जी राष्ट्रीय विचार रखते थे, जो दवा कर रखने पडे हों गे। असह्य पीडा! परन्तु राष्ट्रभाषाकी सेवा जो उन्हो ने उस समय की, वह सब से वडी राष्ट्र-सेवा थी। उस समय हिन्दी को पूछता कौन था! राय वहादुर प० श्याम विहारी मिश्र, राय वहादुर प० शुकदेव विहारी मिश्र, और राय वहादुर वावू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' जैसे उच्च पदाधिकारियो ने जव हिन्दी का पक्ष उस निष्ठा से लिया, तव लोग कुछ-कुछ समझे कि हिन्दी भी कुछ है! इन के पीछे अंग्रेजी वालों की एक लम्बी कतार हिन्दी की ओर चल पडी। यह राष्ट्र की छोटी सेवा न थी! उस परिस्थिति में पड़ कर जो सेवा कर सकते थे, खूब की।

वात-चीत मे 'काव्यप्रभाकर' तथा उस की आलोचना की चर्चा चली। 'भानु' जी का 'छन्द-प्रभाकर' हिन्दी की वेजोड निधि है, पर उन्हो ने अलकार आदि पर भी एक वडा ग्रन्थ लिखा था—'काव्य-प्रभाकर'। इस का भी चलन खूब रहा, परन्तु आगे चल कर इस की गति कुठित हो गई। इस ग्रन्थ पर सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने एक प्रहार किया। सेठ जी ने इस विपय का अच्छा अध्ययन किया है, सस्कृतज्ञ भी है। 'भानु' जी मे इस की कमी थी। तव तक सेठ जी से या उन की प्रकृति से मैं परिचित

न था। 'भानु' जी ने कहा—"सेठ जी ब्राह्मण-सेवी हैं, इस लिए उन के सब काम सिद्ध हो जाते हैं।" इस का व्यग्य मैं ने यह समझा कि सेठ जी कुछ थोड़ा-बहुत यह विषय जानते होंगे और विद्वानों की सेवा कर के बहुत कुछ लिख-लिखा लेते हैं। 'भानु' जी को उन्हों ने अलकार-प्रकरण में काफी झकझोर दिया था, यह मुझे अच्छा न लगा था, क्योंकि 'भानु' जी के प्रति मैं अतिशय श्रद्धावान् था। मैं ने सेठ जी को बदला चुकाने का निश्चय कर लिया, यद्यपि 'भानु' जी ने इस पर कुछ न कहा। घर वापस आकर मैं ने एक लबा लेख वर्तमान अलकार-ग्रन्थों पर लिखा, जिस मे डा० रसाल आदि सभी प्रमुख जनों के ग्रन्थों की आलोचना की, साथ ही सेठ जी के 'काव्य-कल्पद्रुम' पर भी कलम-कुल्हाडा गिरा! अन्य सभी आधुनिक अलकार-ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता मैं ने स्वीकार की, परन्तु अनेक गलतियाँ-त्रुटियाँ भी दिखाईं। साथ ही यह भी लिख दिया कि सेठ जी ब्राह्मणसेवी हैं, इस लिए इनका निखार खूब हो रहा है।

सेठ जी ने मेरी आलोचना का उत्तर भी 'माधुरी' मे ही छपवाया, परन्तु कुछ ही दिन बाद मुझे सप्रेम निमन्त्रित किया कि 'काव्य-कल्पद्रुम' का अगला सस्करण निकलनेवाला है, इस लिए छपने से पहले आप देख लें, तो ठीक रहे। छप जाने के बाद उस दृष्टि से देखना काम नही देता है! मुझे इतने लम्बे अर्से मे एकमात्र सेठ जी ही ऐसे उदार साहित्य-महारथी मिले, जिन्हों ने वैसा कटु व्यग्य सुन कर भी अपने आलोचक

को यो बुला कर गौरवान्वित किया। इस से उनका गौरव तो बढा ही। मै यथावसर मथुरा गया और पन्द्रह दिन के लगभग वहाँ ठहरा। इस मे सन्देह नही कि सेठ जी वस्तुत ब्राह्मण-सेवी है, परन्तु 'भानु' जी के उस वाक्य से जो व्यग्य मै ने समझा था और जिसे मै ने 'माधुरी' के उस लेख द्वारा प्रकट किया था, वह पूर्ण गलत निकला। सेठ जी संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतने बडे विद्वान है, यह मै न जानता था। पुस्तको का बडा अच्छा सग्रह आप ने किया है। मुनीमो के वहीखातो से घिरे हुए भी सेठ जी 'ध्वन्यालोक' आदि का चिन्तन उस समय करते रहते थे। 'काव्य-कल्पद्रुम' के जिस स्थल पर मै कोई सुझाव देता था, उसे वे यो ही नही मान लेते थे, खूब लम्बी बहस करते थे, ग्रन्थो के पन्ने उलटे-पलटे जाते थे, और फिर उन पर तुलनात्मक आलोचना चलती थी, तब जा कर कोई निर्णय मान्य-अमान्य होता था। इस समय मै अपनी बुद्धि पर पछताया कि 'भानु' जी के उस वाक्य का वैसा व्यग्य निकाला और फिर छपाया!

जब मथुरा से मै विदा होने लगा, तो द्वार पर सेठ जी विदा करने आए। ताँगे पर बैठते समय मुझ से उन्हो ने सकोच-पूर्वक कहा—"आपने जो वह एक व्यजना की थी, उस पर आप का क्या मत अब है?" मै लज्जा का अनुभव कर रहा था। बोला—"वह बात तो एकदम गलत निकली।"

"तो फिर आप अपने इस नये अनुभव को प्रकट करेंगे, या नही?"

—"अवश्य प्रकट करूँगा" मै ने दृढता से कहा। घर आ कर मै ने इस यात्रा का वर्णन किया कि किस तरह लखनऊ पहुंच कर श्री दुलारे लाल भार्गव के यहाँ मीठे खरबूजे खाते-खाते 'दुलारे-दोहावली' के दोहो का आनन्द लिया, द्विवेदी जी के गाँव (दौलत पुर) पहुंच कर क्या देखा-सुना और वहाँ से मथुरा क्यो-कैसे पहुंचा, सेठ जी को कैसा पाया, इत्यादि। इस लेख मे मै ने स्पष्ट ही अपनी भूल स्वीकार की थी और लिखा था कि 'भानु' जी के उस वाक्य से मै ने जो धारणा बना ली थी, वह गलत निकली, आमने-सामने बैठ कर जब पन्द्रह दिन तक साहित्य-चर्चा हुई।

तभी से सेठ जी के प्रति मेरे मन मे कुछ अद्भुत सम्मान है। सेठ जी आचार्य द्विवेदी के उठते हुए युग की विभूति है। 'सरस्वती' मे कुछ लिखते रहने के लिए द्विवेदी जी ने उन दिनो जिन साहित्यकारो को सप्रेम आमन्त्रित किया था, उन मे एक सेठ जी भी है।

कभी-कभी कैसी गलत-फहमी हो जाया करती है!

आचार्य द्विवेदी

आचार्य द्विवेदी ने इस जन को प्रथम कार्ड भेज कर द्वितीय उन्मेष के प्रारम्भ मे ही प्रोत्साहित किया था। अपने साहित्यिक जीवन में इस कार्ड को मै सर्वाधिक सम्मान समझता हूँ। इस के बाद तो लगभग सौ कार्ड-लिफाफे द्विवेदी जी के हाथ के लिखे हुए प्राप्त हुए। कितना बडा सौभाग्य मिला एक

ऐसे व्यक्ति को, जिसे हिन्दी-जगत् ने आज तक वहिष्कृत कर रखा है-न कही नाम, न कही इस की लिखी पुस्तक! द्विवेदी जी वस्तुत' नीचे गिरे को ऊपर उठाने की प्रवृत्ति रखते थे।

आगे चल कर प्रयाग में 'द्विवेदी-मेला' के नाम से वहुत वडा अभिनन्दन - समारोह हुआ, जिस का उद्घाटन महर्षि प० मदनमोहन मालवीय ने किया था और सभापतित्व किया था अपने आप को द्विवेदी जी का 'हिन्दी-शिष्य' मान कर कृतज्ञतापूर्ण उदारता प्रकट करनेवाले प० गगानाथ झा ने, जो प्रयाग-विश्वविद्यालय के सस्मरणीय 'वाइसचासलर' थे और अन्तर-राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त सस्कृत के महान् विद्वान् थे। इसी मेले मे मैं ने पहली वार द्विवेदी जी के दर्शन किए। इस के वाद तो मैं दो वार उनके गाँव (दौलतपुर) गया। कई-कई दिन साथ रहा, साथ घूमा-फिरा, न जाने कितनी वाते हुई! वहुत अधिक सस्मरण है। एक जीवनी द्विवेदी जी की लिखनी है। उसी में यथा प्रसग जरूरी वातें आएँगी। यहाँ एक चीज पर प्रकाश डालना है।

अपने साहित्यिक जीवन के इस द्वितीय उन्मेप में मैं ने एक इतना महत्त्वपूर्ण काम किया कि इस जन्म में यदि और कोई भी राष्ट्र का काम न करता, तो भी मेरी आत्मा (राष्ट्र) के अनन्त ऋण से उऋण हो जाती। यह सौभाग्य की वात है कि भगवान् ने इस जन के द्वारा वह उतना वडा काम कराया। वह काम है हिन्दी-जगत् के आचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के—

महत्त्वपूर्ण कागज-पत्रों का प्रकटीकरण

इस वडी रोचक कथा का सक्षेप यहां देना जरूरी है। मै इसे अपने साहित्यिक-जीवन की सव से वडी सफलता समझता हूँ। नागा साधुग्रो के मम्वन्ध मे वह मव से वडा आन्दोलन चला कर मै ने अपनी जान खतरे मे डाल दी थी, पर उस मे सफलता न मिली। परन्तु माहित्य का यह सव से वडा काम मै ने अपनी जान जोखिम मे डाले विना सफलता से सम्पन्न कर लिया, किन्तु अपने ऊपर एक वडे सगठन का कोप तथा कुछ वहुत वडे लोगो का वैर वढा लिया! इस मूल्य पर भी सौदा सस्ता रहा।

हिन्दी-जगत् के परमाचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी को समय-समय पर उनके महयोगी-साहित्यिको ने जो पत्र लिखे थे, उन मे से दो चार भी आपको देखने को मिल जाएँ, तो कैसा रहे? आचार्य द्विवेदी को लिखे गए पत्रो मे क्या हो गा, इस की कल्पना भी आप नही कर सकते। पात्र के अनुरूप ही चीज मिलती है। एक ही लेखक मुझे कुछ ग्रौर लिखे गा ग्रौर आचार्य द्विवेदी को उस ने कुछ ग्रौर ही लिखा हो गा। दोनो तरह के पत्रो मे उतना ही अन्तर हो सकता है, जितना इन पक्तियो के लेखक मे ग्रौर आचार्य द्विवेदी मे। उस समय किस-किस शब्द पर आपस मे क्या-क्या विचार-विमर्श पत्र-व्यवहार द्वारा हुए थे, किस समय किस ने किसे क्या साहित्यिक परामर्श दिया था, उस समय की साहित्यिक ग्रन्थियो को

सुलझाने के लिए किस ने किस से क्या सहयोग माँगा था ; यह सब उन पत्रो से मालूम हो सकता है ; जो एक दूसरे को लिखे गए थे। परन्तु वे पत्र मिले कहाँ ? एक पत्र की भी खोज कर लेना मामूली काम नही है ! ऐसी स्थिति मे यदि इकट्ठे वहुत से पत्र आप को अनायास मिल जाएँ, तो कैसा रहे ? क्या कहना ! और साथ ही उस समय के साहित्यिको की पाण्डुलिपियाँ मिल जाएँ, तो ?

तब तो चुपडी और दो-दो ! देखने को मिले कि वावू श्यामसुन्दर दास और महाकवि 'हरिऔध' आदि किस तरह लिखते थे। महाकवि श्री मैथिली शरण गुप्त की लिखी कविताओ का कहाँ क्या सशोधन द्विवेदी जी ने किया था ; यह सब भी किसी पाण्डुलिपि में देखने को मिल जाए, तो एक नक्शा सामने आ जाए। द्विवेदी जी अपने समकालीन लेखको की रचनाओ मे कैसा सशोधन करते थे, देखने की चीज है। पर मिले कहाँ ?

द्विवेदी जी की एक बड़ी देन

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के लिए क्या-किया, सब जानते है। यदि वे अपने संस्मरण लिख जाते, या अपने साहित्यिक जीवन का क्रमवद्ध वर्णन कर जाते—'आत्मकथा' लिख जाते, तो लगभग पचास वर्षो का हिन्दी-जगत् मूर्तिमान् हो उठता। इस के लिए कई प्रकाशको ने कई वार उन से प्रार्थना भी की—वडी-वडी रकमें भेट करने

को कहा , पर वे तयार न हुए । इस लिए तयार न हुए कि वे अत्यन्त उदात्त - वृत्ति के पुरुष थे। उन की आत्म-कथा में जो कुछ आता, आप समझ सकते हैं। उन की उस समय हिन्दी में सर्वोच्च सत्ता थी। वह सब अपनी कलम से कैसे वे लिखते ? परन्तु वैसा न करने से हिन्दी को बडा घाटा रहता, जो नही रहा, क्योंकि उन्हो ने वह सब सामग्री सजो कर रखी, और उसे वे काशी नागरी-प्रचारणी सभा को भेंट कर गए है, जो कि उनकी 'आत्म-कथा' का ही दूसरा रूप है।

'सभा' को दान

आचार्य द्विवेदी ने 'नागरी-प्रचारिणी सभा काशी' को अपनी जो चिर-सचित साहित्यिक सामग्री भेट की, उसे तीन भागो में रख सकते है—

१—पुस्तक-सग्रह

२—पत्र-व्यवहार तथा अन्य कागज-पत्र

३—सशोधन - सहित पाण्डुलिपियाँ

पुस्तक-सग्रह तो 'सभा' को बहुत पहले ही दे दिया था। प्रदत्त सभी पुस्तको पर द्विवेदी जी के हस्ताक्षर है। समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तको पर तारीख पडी है और जिस तारीख को जिस की समालोचना की गई, वह भी दी हुई है। कही-कही द्विवेदी जी ने हाशिए पर या नीचे-ऊपर अपने नोट दिए है। मै ने एक 'हिन्दी-प्राइमर' भी उस पुस्तक-सग्रह में देखी— 'वर्ण-बोध'। बच्चो की इस पुस्तक पर भी द्विवेदी जी ने

जगह-जगह अपने मन्तव्य दिए है। नीवें लगा रहे थे न। जिस समय बाबू श्यामसुन्दर दास के गहन साहित्यिक लेखो का सशोधन कर रहे थे और श्री मैथिलीशरण गुप्त को कविता का पाठ पढा कर जब राष्ट्र-कवि बना रहे थे, उसी समय 'हिन्दी प्राइमर' का भी सशोधन कर रहे थे वे। ईट-पत्थर इकट्ठे करना, चूना-सीमेट तयार करना और फिर कन्नी हाथ मे ले कर इमारत बनाना एक ही व्यक्ति का काम। कारीगर भी वे तयार करते थे और उनसे फिर काम लेते थे।

सो, द्विवेदी जी का यह पुस्तक-सग्रह बडे काम की चीज है—'रिसर्च' के लिए।

दूसरे और तीसरे विभागो की चीजे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, जो सक्षेप मे 'द्विवेदी जी के कागज-पत्र' कर के प्रसिद्ध है। द्विवेदी जी ने एक विशेष ढँग से ये अपने महत्त्वपूर्ण कागज-पत्र 'सभा' को भेजे थे। 'सभा' के मन्त्री को एक पत्र भेजा था आप ने, जिस में लिखा कि मेरे सगृहीत कागज-पत्रो का सग्रह आगे इतिहास के लेखको के काम आए गा। इसे देख कर लोग समझ सकें गे कि आज के धुरन्धर साहित्यकार किसी समय किस तरह राह पर लाए गए थे। द्विवेदी जी ने इस पत्र में लिखा कि 'सभा' को ही मै इन कागज-पत्रो के पाने का अधिकारी समझता हूँ। उन्हो ने इसी पत्र मे यह लिखा कि ये सब कागज-पत्र 'सेफ' में रखे जाएँ और ताली मत्री जी स्वय अपने पास रखे। उन्हो ने आज्ञा दी—मेरे मरने के बाद ही ये बडल खोले जाएँ।

इस पत्र के साथ वे सब कागज-पत्र द्विवेदी जी ने 'सभा' को भेज दिए। यह समाचार मैं ने किसी समाचारपत्र मे पढा था। इस के बाद मै दो बार द्विवेदी जी के दर्शन करने उन के गाँव (दौलतपुर) गया और कई-कई दिन वहाँ ठहरा। परन्तु उन कागज-पत्रो के बारे मे कोई चर्चा मैं ने न चलाई। उचित न समझा, क्योकि उस समाचार-पत्र मे यह भी मैं ने पढा था कि 'मेरे मरने के बाद ही ये बडल खोले जाएँ' यह आज्ञा द्विवेदी जी ने दी है। तब उनके बारे मे कैसे कुछ पूछता। न उन्हो ने ही कोई चर्चा की।

द्विवेदी जी के दिवगत हो जाने के बाद यह जानने की इच्छा रही कि उन बडलो मे वे 'सभा' को जो कागज-पत्र दे गए है, उन मे क्या है। कुछ दिन प्रतीक्षा मे रहा कि 'सभा' के अधिकारी बडल खोले गे, तो सब विवरण प्रकाशित कराएँ गे। परन्तु बहुत दिन बीत जाने पर भी कोई जानकारी न मिली। तब मैं ने एक कार्ड 'सभा' को भेजा और पूछा कि द्विवेदी जी के दिए हुए कागज-पत्रो के वे बडल खोले गए कि नही? खोले गए, तो उन मे क्या निकला? उत्तर न मिला, दूसरा पत्र भेजा। इस का भी कोई उत्तर न मिला।

'सम्मेलन' का काशी-अधिवेशन

कुछ दिन बाद सन् १९३९ मे हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन काशी मे हुआ। प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी अध्यक्ष थे। बाबू श्यामसुन्दर दास भी उस समय वर्तमान

थे। मै भी काशी गया। 'सभा' के पीछे बडा भूमि-भाग है, उसी मे मण्डप बनाया गया था। प्रतिनिधियो को ठहराने का प्रबन्ध वहाँ से थोडी दूर था। 'सम्मेलन' मे जाते दोनो समय 'सभा' के अधिकारियो से मै मिलता और द्विवेदी जी के कागज-पत्रो के बारे मे पूछता। परन्तु किसी ने कुछ भी न बताया। 'सभा' के सहायक मन्त्री से मिला। उन्हो ने भी सिर हिला दिया—'मुझे तो कुछ पता नही!' इतनी बडी चीज और यो बे-पते! बहुत बुरा लगा! अधिवेशन का अन्तिम दिन था, कई प्रस्तावो मे मेरी अभिरुचि थी, पर सब भूल गया। एक प्रस्ताव तयार किया कि 'द्विवेदी जी के दिए हुए वे कागज-पत्रो के बडल इस समय खोले जाएँ, जिस से कि सम्मेलन के प्रतिनिधि भी देख सके।' परन्तु 'सम्मेलन' के बडे लोगो को यह प्रस्ताव पसन्द न आया, क्योंकि 'सभा' एक स्वतन्त्र सस्था है और उसके सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव 'सम्मेलन' मे लाया जाए, यह ठीक नही। ऐसा समझ कर उन्हो ने प्रस्ताव रखना ठीक न समझा। मै दूसरे की बात तो न मानता, पर राजर्षि टडन की बात मै कैसे टालता? मान गया। प्रस्ताव फाड कर फेक दिया और उठ कर एक प्रेस गया। आठ-दस रुपये खर्च करने की सोच ली, यद्यपि उन दिनो बहुत तंगी मे था। सामने बैठे-बैठे एक छोटा सा—

लाल पर्चा छपवाया

यह पर्चा ला कर सम्मेलन-मण्डप में अपने हाथो मै ने

बाँट दिया। इस मे यह लिखा था कि आचार्य द्विवेदी ने 'सभा' को जो कागज - पत्र कई बडलो मे बन्द कर के दिए थे, वे इस अवसर पर खोले जाने चाहिए। इस पर्चे ने कुतूहल के साथ एक ववडर उस समय पैदा कर दिया था! जगह-जगह कानाफूसी होने लगी। 'सभा'-भवन की दीवार से सटे बाबू श्यामसुन्दर दास जी कई साहित्यिको से बाते कर रहे थे, जिन मे श्री दुलारेलाल भार्गव भी थे। मै सामने से निकला, तो भार्गव ने हँसते हुए मुझे बुला लिया। आगे बढ कर मै ने 'बाबू जी' को अभिवादन किया। चर्चा जारी थी। बाबू साहब (बाबू श्यामसुन्दर दास) कह रहे थे कि, कुछ पत्रो के बडल द्विवेदी जी ने भेजे तो थे और वे उन्ही (द्विवेदी जी) की आज्ञानुसार खोल कर एक साहित्यिक को दिखाए भी गए थे, परन्तु उसके बाद क्या हुआ, मुझे पता नहीं। बाबू साहब की इस बात से मुझे सन्तोष भी हुआ और आशका भी हुई कि आगे क्या हुआ! बहुत पता लगाने पर भी कोई भेद न खुला।

पत्रो में चर्चा

काशी से लौट कर मै ने विभिन्न पत्रो मे द्विवेदी जी के उन कागज-पत्रो की चर्चा की और 'सभा' से माँग की, उन बडलो को खोल कर सब प्रकट करने की। इस के उत्तर में 'सभा' के अधिकारियो ने छपाया कि "द्विवेदी जी के कोई बडल तो सभा मे नही है, हाँ, एक लिफाफे मे कुछ नोट उन्हो

ने अभिनन्दन - महोत्सव पर जरूर दिए थे, जो उन की आज्ञानुसार ही खर्च कर दिए गए थे।"

'सभा' के इस नोट का जवाब मैं ने छपाया कि नोट तो द्विवेदी जी ने लिफाफे मे दिए थे ; पर अपने कागज-पत्र बडे-वडे वडलो में दिए थे और मैं उन्ही वडलो की चर्चा कर रहा हूँ। भले ही वडल को आप 'वडा लिफाफा' ही कह ले, परन्तु अभिनन्दन-उत्सव पर दिए नोटो के उस लिफाफे से इस का कोई मतलव नही है।

मै ने चर्चा जारी रखी, परन्तु पत्र-पत्रिकाओ ने मुझे सहयोग देना वन्द कर दिया। मालूम नही, 'सभा' ने निर्देश भेजा, या यो ही 'सभा' को सच और मुझे झूठा समझ लिया। यही नही, कुछ पत्र साफ-साफ मुझे झूठा वतलाने लगे और 'सभा' का समर्थन करने लगे। आगरे के 'साहित्य-सन्देश' मे वावू गुलाव राय एम० ए० (सम्पादक) ने

'लिफाफा-आन्दोलन'

शीर्षक से एक सम्पादकीय टिप्पणी प्रकाशित की थी, जिस मे मेरे विपक्ष 'सभा' का पक्ष जोरो मे लिया गया था। मैं किंकर्त्तव्य-विमूढ हो गया। भाग्य की वात, इसी समय आगरे से

'मराल' साहित्यिक पत्र

निकला। इसके सचालक कनखल आए और मुझ से कहा कि 'आप इस पत्र के प्रधान सम्पादक वनें, तो वहुत अच्छा

हो ; परन्तु मैं सेवा थोडी ही कर सकूं गा।' मुझे पत्र एक चाहिए ही था। कहा—"भाई, मैं आगरे न जाऊं गा, यहीं से सम्पादकीय लिख कर भेज दिया करूं गा। शेष सब काम दूसरे सम्पादक (डा० श्यामसुन्दर दीक्षित) करें गे।" मैं ने खर्च के लिए यह कह दिया कि जो भी दो गे, ले लूं गा।

बात पक्की हो गई। 'मराल' मे नियमित रूप से लगातार सब निकलने लगा। तब इलाहाबाद के 'देशदूत' ने 'सभा' का पक्ष लिया। इस पर मैं ने 'मराल' मे केवल इतना लिखा कि "यह इण्डियन प्रेस का पत्र है, जिसे 'सभा' का प्रकाशन प्राप्त है, पुराने मधुर सम्बन्ध है। इस लिए अपने मालिक के इशारे पर सब लिखा गया हो गा और ऐसी स्थिति में उत्तर देना अनावश्यक है। बेचारे सम्पादको की स्थिति हम समझते हैं।"

'मराल' के इस नोट ने प्रयाग मे आग लगा दी! लोग भडके और 'देशदूत' के सम्पादक प० ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा ठाकुर श्रीनाथ सिह का एक सयुक्त—

अदालती नोटिस मुझे मिला

लिखा था—आप ने हम लोगो का अपमान किया है, बल्कि 'मराल' की उस टिप्पणी से इडियन प्रेस के मालिको का भी अपमान हुआ है, इस लिए माफी मांगो, अन्यथा अदालत मे मानहानि का दावा किया जाए गा।

नोटिस पढ कर उसी दिन जवाब लिख कर भेज दिया—

'आप जरूर अदालत मे मानहानि का दावा करें। मै यही चाहता हूं। वही सब वाते खुलेंगी।'

परन्तु कौन दावा करता है! चुप हो गए। हाँ, इसके थोडे ही दिन वाद आगरे से सेठ जी का पत्र आया—'मराल' आगे चलाने का इरादा नही है। वन्द किया जा रहा है।' झूठ समझा हो, या सच, समझा मै यही उस समय कि 'मराल' वन्द कराया गया है। 'मराल' के प्रकाशक एक पुस्तक-प्रकाशक है और इन के द्वारा प्रकाशित पुस्तके सरकारी परीक्षाओ में चलती रहती है। ऐसे आदमियो पर न जाने कहाँ-कहाँ से कैसा-कैसा प्रभाव डलवाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि लाला जी ने 'मराल' चलाना अपने आप वन्द किया हो! मतलव यह कि यह सुन्दर सन्देश-वाहक हाथ से जाता रहा।

अव क्या किया जाए ?

सोचा, अव क्या किया जाए? कोई मेरी चीज छापता न था। सव वकवास समझते थे। उस समय सुदूर लाहौर से एक साप्ताहिक 'विश्ववन्धु' निकलता था। उस को भेजने लगा। सम्पादक थे 'माधव' जी, सव छापने लगे। कुछ दिन वाद 'सभा' से एक पत्र 'विश्ववन्धु'-सम्पादक के नाम पहुंचा। लिखा था—आपको 'सभा' के विरुद्ध ऐसे कुप्रचार मे योग न देना चाहिए। 'विश्ववन्धु' के सम्पादक ने इस पत्र का उल्लेख कर के कहा—'सभा' को अपनी स्थिति

स्पष्ट करनी चाहिए। वाजपेयी जी की तर्क-सगत चीज हम छापते है और 'सभा' का भी उचित उत्तर छापेंगे।"

इस से मुझे बल मिला। परन्तु अब 'विश्वबन्धु' में भी बार-बार वे ही बाते घुमा-फिरा कर कहाँ तक लिखी जाएं।

इसी समय 'सभा' के प्रधान मन्त्री प० रामबहोरी लाल शुक्ल का पत्र आया। लिखा था—'सभा' के रिकार्डो से मुझे द्विवेदी जी के कागज-पत्रो का कुछ भी पता नहीं चलता और सभा के पुराने अधिकारी कुछ बतला नही रहे है।

यह पत्र अत्यन्त सौम्य था। परन्तु 'सभा' के दूसरे प्रधान मन्त्री प० लल्ली प्रसाद पाण्डेय ने तो मेरे विरुद्ध युद्ध-घोषणा ही कर दी थी। यही नही, वे द्विवेदी जी के 'कागद-पत्तर' लिख-लिखकर मजाक भी उडाने लगे। मै उदास हो गया।

इस समय मेरी उदासी पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। दो वर्ष तक सघर्ष किया। किसी तरह कठिनाई से बाल-बच्चो को रुखी-सूखी रोटियो का प्रबन्ध कर रहा था, उन मे से भी बचा कर काफी पैसा इस ऋषि-श्राद्ध मे लगा दिया था। उलझा ऐसा रहा कि और कोई काम भी गति का न कर पाया। लोगो मे झूठा बना और बडे लोगो की झिड-कियाँ खाई। 'सभा' की देश मे प्रतिष्ठा है और बड़ा फैलाव है। न जाने किस-किस ने बुरा माना! और इतने पर भी वे कागज-पत्र न बरामद हो पाए, जिन के लिए यह सब कुछ हुआ।

बडी चिन्ता में रहता था कि क्या करूं! एक दिन आलमारी से 'सरस्वती' का 'द्विवेदी स्मृति-अक' निकाला। कई दिन तक उसे ही उलटता-पलटता रहा। आखिर मा सरस्वती एक दिन प्रसन्न हो गई और मुझे एक वहुत वडी चीज उन की कृपा से मिल गई। निश्चय ही इस साहित्यिक युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए मुझे—

ब्रह्मास्त्र मिल गया !

'सरस्वती' के इस विशेषाङ्क में एक वगाली सज्जन का एक लेख पढा, जो उन दिनो इण्डियन प्रेस (प्रयाग) की काशी-शाखा के मैनेजर थे। इस लेख मे उन्ही कागज-पत्रो का जिक्र था, जिन का अस्तित्व मनवाने के लिए 'सभा' से मेरा लम्बा सघर्ष चला। लिखा था कि द्विवेदी जी के स्वर्गवासी हो जाने के वाद मै एक दिन 'सभा' के कार्यालय मे गया, तो देखा कि द्विवेदी जी के वे कागज-पत्र खोले-देखे जा रहे है, जिन्हे वे कई वडलो में वन्द कर के 'सभा' को दे गए थे। लेखक ने यह भी उस लेख में लिखा है कि मेरे साथ मेरे एक मित्र भी उस समय थे और हम दोनो ने उन कागज-पत्रो मे से कई पत्र उठा कर पढे भी। लेखक ने इन कागज पत्रो को वहुत महत्त्वपूर्ण वतला कर इन के सदुपयोग की अपील हिन्दी संसार से की थी।

मै हर्ष से उत्फुल्ल हो उठा। कई वार इस लेख को आदि से अन्त तक पढा। पता लगाया, तो मालूम हुआ कि

लेखक ने अपने जिस 'मित्र' का उल्लेख किया है, वे प० लल्ली प्रसाद पाण्डेय है। पाण्डेय जी भी उन दिनो इ० प्रे० की काशी-शाखा मे ही काम करते थे। 'सरस्वती' का 'द्विवेदी स्मृति-अक' निकलने के बहुत दिन बाद मैं ने उन कागज-पत्रो के लिए वह चर्चा शुरू की थी और चर्चा काफी चल चुकी थी, जब कि पाण्डेय जी 'सभा' के प्रधान मन्त्री चुने गए। प्रधान मन्त्री के रूप मे ही उन्हो ने द्विवेदी जी के कागज-पत्रो का 'सभा' मे अस्तित्व अस्वीकार किया था। बडी विचित्र बात थी!

मैं तो दो मूठ पर खेल ही जाता था उस समय। यह लिखित मजबूत आधार मिल जाने पर मैं ने—

'सभा' को अदालती नोटिस दे दिया

लिखा कि अब पक्का सबूत मेरे हाथ लग गया है, यह साबित करने के लिए कि द्विवेदी जी ने 'सभा' को अपने महत्त्व-पूर्ण कागजो के बडल जो दिए थे, उन्हें 'सभा' के अधिकारियो ने (द्विवेदी जी का स्वर्गवास हो जाने के बाद) खोला था और पूरी देख-भाल की थी। निश्चय ही वह सामग्री हिन्दी-ससार की है, जो 'सभा' के पास एक अमानत के रूप में थी। मालूम नही क्यो, 'सभा' ने उन कागज-पत्रो को नष्ट कर दिया है, ऐसा जान पडता है। अथवा, सभा उन्हे नष्ट करने का इरादा रखती है। निश्चय ही यह थाती नष्ट कर देने का सगीन मामला है और इस लिए मैं 'सभा' पर अदालती कार्रवाई शुरू करने जा रहा हूँ। वस्तु-स्थिति स्पष्ट करने

के लिए पन्द्रह दिन की अवधि 'सभा' को दे रहा हूँ।

अपने नोटिस में उपर्युक्त बातें लिख कर रजिस्टरी 'सभा' के प्रधान मत्री के नाम भेज दिया। तीर की तरह इस नोटिस का असर हुआ और एक सप्ताह के भीतर ही जवाब आ गया कि 'सभा' में द्विवेदी जी के कागज-पत्र सुरक्षित है, जो उन्हो ने कई बडलो में भर कर दिए थे। कोई भी 'सभा' में आ कर इन कागज-पत्रो को देख सकता है।' इसी आशय का वक्तव्य 'सभा' के मत्री ने समाचार-पत्रो मे छपवा दिया। एक बडा यज्ञ इस तरह पूर्ण हुआ—सफल हुआ।

मैं ने वह सामग्री देखी

अब मै काशी गया और अपनी आँखो वह सब सामग्री देखी। ठहरने की सुविधा न थी, भोजन आदि का कोई प्रबन्ध न था। 'सभा' के एक चपरासी की कोठरी मे विस्तर और बाजार मे भोजन! फिर भी, चार-पाँच दिन मैं ने सामग्री देखने मे लगाए। प्रति दिन चार-पाँच घटे लगातार बैठता था। 'सभा' के सहायक मत्री अपने सामने बैठा कर देखने देते थे। रत्न कूडे मे डाल रखे गए थे! एक बडे अधखुले बडल को जोर से पटक कर धूल धक्कड झाडने लगा, तो भीतर से छिपकली के अडे निकल पडे! ऐसी व्यवस्था उन कागज-पत्रो की, जिन्हे द्विवेदी जी ने उतने दिन सजोए रखा और फिर उस निर्देश के साथ 'सभा' को सुरक्षित रखने के लिए सौंपा था।

समय परिमित था, इस लिए जल्दी-जल्दी में सब देखता जाता था। कभी किसी पत्र का कोई अंश पढ़ लेता था, कभी कोई पत्र पूरा पढ़े बिना जी मानता न था। संग्रह में उस समय के सभी साहित्यिकों के पत्र हैं—१—महर्षि प० मदन मोहन मालवीय २—बाबू श्यामसुन्दर दास ३—महाकवि 'हरिऔध' ४—श्री मैथिली शरण गुप्त ५—प० पद्म सिंह शर्मा ६—कविवर प० नाथूराम 'शंकर' ७—प० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ८—राजा रामपाल सिंह (काला कांकर) आदि महानुभावों के कुछ पत्र मैंने पढ़े।

महर्षि मालवीय ने उस समय 'अभ्युदय' निकाला था। उस में सहयोग देने के लिए द्विवेदी जी को जो लम्बा पत्र उन्हो ने लिखा था, उस से उस समय की साहित्यिक तथा राजनैतिक गति-विधि पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

गुप्त जी का बड़ा लम्बा पत्र-व्यवहार है। 'हरिऔध' जी का जो पत्र मैं ने पढ़ा, उस से जान पड़ा कि शब्द-विमर्श मे भी वे शक्ति रखते थे। एक शब्द-प्रयोग पर चर्चा है। महाकवि ने अपने पक्ष में अच्छे तर्क दिए है और फिर अन्त मे द्विवेदी जी का ही पक्ष सही मान लिया है।

बाबू श्यामसुन्दर दास जी का एक पत्र पढ़ा, जिस से मालूम हुआ कि जब आप ने 'साहित्यालोचन' लिखा, तो संशोधन कर देने के लिए आचार्य द्विवेदी से प्रार्थना की। द्विवेदी जी ने स्वीकार कर लिया और पुस्तक का काफी अंश देख कर संशोधित कर दिया। परन्तु इसी समय उन्हें किसी तरह

यह खवर मिली कि वावू साहव इघर-उघर कुछ दूसरी तरह की वातें करते है ! द्विवेदी जी ने इस पर पुस्तक का संशोधन रोक दिया और वावू साहव को पत्र लिखा। द्विवेदी जी के ऐसे ही किसी पत्र के उत्तर में वावू साहव का यह पत्र है, जो मै ने पढा। इस मे आप ने वडी ही विनम्रता से लिखा है कि आप को गलत सूचना दी गई है। अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट कर के पुन सशोधन करने की प्रार्थना वावू साहव ने की है।

एक पत्र मै ने श्री खानखोजे महोदय का पढा, जो अव विज्ञान के 'डाक्टर' है। पूरा नाम मै भूल गया। ये सव सस्मरण मै स्मरण के ही सहारे लिख रहा हूँ। यह पत्र अमरीका के किसी विश्वविद्यालय से लिखा गया था। पत्र वहुत लम्वा है, और वडे काम का है। इस मे यह भी लिखा है कि कृपि-विज्ञान आदि के पारिभापिक शव्द हिन्दी में सस्कृत धातुओ से किस तरह वनाने चाहिए। पत्र के प्रारम्भ में स्वामी सत्यदेव जी का जिक्र है। लिखा है कि उन्ही की प्रेरणा से मै राष्ट्रभापा हिन्दी की ओर झुका हूँ, वैसे मेरी मातृभापा मराठी है। खानखोजे महोदय उस समय कृपि-विज्ञान के छात्र थे और इसी विपय पर कोई लेख "सरस्वती" को आप ने भेजा था। पत्र मे लिखा है कि "गरीव हूं, किसी तरह श्रम से काम चला लेता हूं। लेख को सचित्र करने के लिए चित्र कहाँ से लाऊं! पुस्तको से ही कुछ चित्र फाड कर भेज रहा हूं—व्लाक वनवाने के लिए।"

बाबू रामलाल वर्मा

द्विवेदी जी के कागज-पत्रो मे कुछ ऐसी सामग्री भी एक जगह मिली, जिस मे काशी के बाबू रामलाल वर्मा के बारे मे बहुत कुछ मालूम हुआ। उक्त वर्मा जी 'साहित्यिक' भी थे और 'प्रकाशक' भी, पुस्तक-विक्रेता भी। प्राय उपन्यासो का काम करते थे। कभी-कभी बिना किसी के मंगाए ही वी० पी० भेज दिया करते थे। सौ वी० पी० भेजने पर पचीस भी छूट आएं, तो नफा ही है। परन्तु एक बार बेचारे फंस गए।

पूरा किस्सा यो है, जो सामग्री से मालूम हुआ—

द्विवेदी जी जिस मकान मे जुही (कानपुर) मे रहते थे, उसी के एक भाग मे कोई पण्डित जी भी रहते थे। पण्डित जी का एक नौकर था, जो कदाचित् द्विवेदी जी की भी सेवा करता था। द्विवेदी जी प्रयाग गए हुए थे और वे पण्डित जी भी कही बाहर गए थे। केवल नौकर घर पर था। उसी समय पण्डित जी के नाम काशी के बाबू रालाल वर्मा ने एक उपन्यास वी० पी० से भेज दिया। नौकर ने वी० पी० छुडा ली, यह समझ कर कि मालिक ने मंगाई होगी। कुल १।।=) की वी० पी० थी।

जब पण्डित जी आए, तो वह वी० पी० उन को दी गई। खोलने पर एक उपन्यास निकला, सो भी, कुरुचि-पूर्ण! नौकर ने कह दिया कि मै ने यह समझ कर वी० पी० छुडा ली कि आपने मंगाई होगी। पण्डित जी बेचारे क्या करते?

जव द्विवेदी जी आए, तो सव किस्सा उन के सामने रखा गया। द्विवेदी जी व्यवहार मे वडे खरे थे। उन्होंने यह मामला अपने हाथ में ले लिया और पुस्तक वी० पी० से वावू रामलाल वर्मा के नाम काशी भेज दी। एक पत्र भी पृथक् भेजा, जिस में लिखा कि आप गन्दे उपन्यासो से देश को गन्दा कर रहे है, और फिर विना मगाए ही वी० पी० भेज देते है! कितना वुरा काम है! उन्होंने लिखा कि मेरे पडोसी को आप ने ऐसी वी० पी० भेज दी है। सो, मेरी भेजी हुई वी० पी० कृपा कर छुडा लीजिए गा। द्विवेदी जी ने यह भी लिख दिया था कि वी० पी० फार्म पर जो कुछ छपा है, उसे पढ लीजिए। विना मगाए वी० पी० भेजना जुर्म है।

वावू रामलाल वर्मा ने वी० पी० लौटा दी। तव द्विवेदी जी ने इस विषय पर एक लेख लिख कर ववई के 'श्रीवेंक-टेश्वर-समाचार' में छपवाया, जिस मे अपराधी का नाम-गाम छापे विना उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया। उन के लेख की कतरन मैं ने पढी। द्विवेदी जी यही चुप न हो गए। उन्हो ने पोस्ट-मास्टर जनरल को लिखा। उक्त अधिकारी ने सव जॉच-पडताल कर के वावू रामलाल वर्मा से १।।=) वसूल करवाए और द्विवेदी जी की ही मार्फत पण्डित जी को भिजवाए। पोस्ट-मास्टर जनरल ने एक धन्यवाद का पत्र भी द्विवेदी जी को भेजा, जो सामग्री में मौजूद है। पत्र मे लिखा है कि देश की ये वुराइयाँ अवश्य दूर हो जाए, यदि आप

जैसे कर्मठ लोग कुछ इसी तरह सामने आए। इस के बाद फिर उक्त वर्मा जी काशी छोड कर कलकत्ते चले गए और वहां 'आर० एल० वर्मन' के नाम से काम शुरू किया। फिर उन्होंने वैसा काम कभी नही किया और खूब रुपया भी कमाया, पुस्तकों से और दवाओं मे।

आचार्य द्विवेदी ने जो अपना वसीयतनामा लिखा था, वह भी इस सामग्री मे है।

सामग्री का उचित उपयोग

इस प्राप्त सामग्री का उचित उपयोग यह है कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कागज-पत्रो के ब्लाक बनवा कर छपाए जाए। शेष महत्त्वपूर्ण सामग्री का साधारण प्रकाशन हो। पाण्डु-लिपियो का सशोधन द्विवेदी जी ने कहां किस तरह किया है, इसे बताने के लिए एक-एक पृष्ठ का या उस के अश का ब्लाक बनना जरूरी है। इस तरह यह सामग्री नमूने के रूप मे हिन्दी-ससार के सामने आ जाएगी। फिर जिन्हे अधिक छानबीन करनी हो गी, वे 'सभा' मे जा कर सब प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करे गे।

खैर, कुछ भी हो, सामग्री प्रकट हो गई। इस काम से मेरा ऋषि-ऋण अवश्य हलका हुआ हो गा। अब आगे 'सभा' जाने और हिन्दी-ससार जाने।

कुछ दिन हुए, यह सामग्री 'सभा' ने 'भारत कला-भवन' को दे दी और उस के साथ ही वह सब काशी-विश्वविद्यालय

पहुँच गयी थी। परन्तु फिर 'सभा' के अधिकारियो ने कुछ सोचा, वह सब सामग्री वापस लाए और उसे सुरक्षित रखने के लिए सुन्दर 'सेफ' खरीदे। अब वह वहाँ सुरक्षित है। कभी उपयोग भी हो गा ही।

'सम्मेलन' का अबोहर-अधिवेशन

द्वितीय उन्मेष मे ही मैं ने अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अबोहर-अधिवेशन देखा। 'सम्मेलन' तथा 'कांग्रेस' से मैं अपने जीवन के प्रारम्भ में ही जुड गया था। इस समय तक बहुत से अधिवेशन देख चुका था और 'स्थायी समिति' मे मुद्दत से काम करने का सौभाग्य भी प्राप्त कर चुका था, परन्तु अबोहर-अधिवेशन का महत्त्व मेरी दृष्टि मे सर्वोपरि है। उसी अधिवेशन ने राष्ट्रभाषा की समस्या हल की।

बात यह हुई कि सन् १९३०—३४ के राष्ट्रीय आन्दोलन के बाद महात्मा गान्धी 'हिन्दुस्तानी' भाषा के समर्थक हो गए थे। 'हिन्दुस्तानी' एक तरह की सरल उर्दू या सस्कृत के प्रभाव से रहित हिन्दी समझिए, जिस मे फारसी आदि के वे शब्द भी सम्मिलित है, जिन्हें हिन्दी ने ग्रहण नही किया है। परन्तु भाषा के स्वरूप-भेद से भी बढ कर बात यह थी कि दोनो (नागरी तथा अरबी) लिपियो को 'राष्ट्रीय लिपि' का पद दिया जा रहा था। महात्मा जी के कारण 'हिन्दुस्तानी' की चर्चा बहुत बढ गई थी, यहाँ तक कि श्री जैनेन्द्र कुमार जैसे लोग 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन करने लगे थे, जिन की

'अतिसंस्कृतमयी' हिन्दी का मजाक हम लोग उड़ाया करते थे। जैनेन्द्र जी के ग्रन्थों में भाषा का स्वरूप देखिए और फिर 'सम्मेलन' के जयपुर-अधिवेशन पर उन की दी हुई 'स्पीच' पढ़िए। जान पड़े गा कि हिन्दी में दो जैनेन्द्र हुए हैं। परन्तु साहित्यिक जनों में 'जैनेन्द्र' अधिक न हुए। हाँ, राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले लुटक-पुटक गए थे। जन्म भर हिन्दी की सेवा जिन्हों ने की, जिन का जीवन-व्रत था हिन्दी की सेवा करना, वे भी 'हिन्दुस्तानी' की बात करने लगे थे। 'सम्मेलन' के मंच को 'साम्प्रदायिक' कहा जाने लगा था। उस बड़े भारी तूफान में राजर्षि टंडन हिमालय की तरह अडिग रहे। बाबू सम्पूर्णानन्द ने भी इस समय अपना तेजस्वी रूप प्रकट किया और खुल कर हिन्दी का ऐसा समर्थन किया कि मिनिस्टरी भी दावँ पर लगा दी थी। प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बनते ही 'हिन्दुस्तानी'-आन्दोलन ने जोर पकड़ा था। 'हिन्दुस्तानी'-पक्ष के प्रमुख सेनापति थे काका कालेलकर और श्री सुन्दर लाल जी। प्रयाग-विश्वविद्यालय के प्रमुख प्राध्यापक डा० ताराचन्द भी मैदान में आ कूदे थे और अंग्रेजी-उर्दू अखबारों में बराबर लेख लिख-लिख कर 'हिन्दुस्तानी' को ऐसा बल दे रहे थे कि देश भर के 'शिक्षित' लोग हिन्दी के विरोधी बन जाते, यदि उसी विश्वविद्यालय के 'वाइस चांसलर' डा० अमरनाथ झा महोदय हिन्दी का पक्ष ले कर मैदान में न उतर आते। डा० झा महोदय के लेख

जब हिन्दी के पक्ष में एक के बाद एक लेख बराबर छपने लगे, तब पाँसा फिर पलट गया। 'हिन्दुस्तानी' ने डा० ताराचन्द का जो नहला फेंका था, उस पर हिन्दी ने यह डा० झा के रूप मे दहला मारा। विश्वविद्यालयो की बिगडती हुई हवा सँभल गई। यह अचरज की बात है कि इसी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष (और 'सम्मेलन' के प्रमुख कार्यकर्ता) डा० बाबूराम सक्सेना जैसे लोग उस समय चुप रहे! इस तरह चुप हो जानेवाले हिन्दी-हितैषी लोग बहुत अधिक उस समय थे। कोई जानता न था कि क्या हो गा! बाबू सम्पूर्णानन्द के अनन्तर हिन्दी-पक्ष मे जिन का नाम लिया जा सकता है, वे है श्री क० मा० मुशी, जो इस समय हमारे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल है। आप ने भी हिन्दी का अच्छा पक्ष लिया था। बाकी सब दब गए थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद तो हिन्दीमय है, परन्तु महात्मा जी के प्रति अनन्य श्रद्धावान् होने के कारण वे भी 'हिन्दुस्तानी'-दल मे हो गए थे! डा० ताराचन्द जी को तो बहुत दिन बाद अपनी सेवाओ का पुरस्कार मिला, जब कि स्वराज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे शिक्षा-मत्री मौलाना अबुल, कलाम आजाद ने उन्हे अपने विभाग के प्रमुख सचिव-पद पर बैठाया, परन्तु डा० अमरनाथ झा को हिन्दी-जगत् ने उसी समय सिर-माथे ले कर सर्वोपरि सम्मान दे दिया था, 'सम्मेलन' के अबोहर-अधिवेशन पर—

डा० झा सभापति हुए

इसका महत्त्व इसलिए बहुत बढ़ गया है कि डा० राजेन्द्र प्रसाद को चुनाव में हरा कर डा० झा विजयी हुए थे। सच पूछो तो डा० प्रसाद पर डा० झा की यह विजय न थी, 'हिन्दुस्तानी' पर हिन्दी की विजय थी। इससे पहले डा० राजेन्द्र प्रसाद एक बार 'सम्मेलन' के और एक बार 'कांग्रेस, के अध्यक्ष हो चुके थे। हम लोगों का सम्मान उनके प्रति बराबर वैसा ही था, परन्तु हिन्दी को कैसे छोड़ सकते थे? नागरी के साथ अरबी लिपि को भी राष्ट्र के बच्चों पर सदा-सर्वदा के लिए थोप देना इष्ट न था। इस लिए, मेरे जैसे लोगों ने भी डा० राजेन्द्र प्रसाद के विरुद्ध डा० अमरनाथ झा का समर्थन किया। खूब धूमधाम से सम्मेलन हुआ। 'हिन्दुस्तानी' के समर्थकों ने देख लिया कि राष्ट्र क्या चाहता है। उन की हिम्मत पस्त हो गई। अबोहर काका कालेलकर पहुंचे थे जरूर, परन्तु बहुत अनमने। साथ मे एक शिष्य और दो शिष्याए। राजर्षि टंडन और बाबू सम्पूर्णानन्द जी जिस कमरे में ठहरे थे, उस से अलग, दूसरी पक्ति के एक सामने वाले कमरे मे, वे ठहरे थे। 'सम्मेलन' में कोई खास दिलचस्पी इस दल ने न ली।

यो हिन्दी की विजय तो हुई, परन्तु काका जी के अबोहर पहुंचने पर और उन की बाते सुनने पर मुझे ऐसा लगा कि 'सम्मेलन' में अभी एक टक्कर और हो गी। मेरे मन मे आया कि काका आदि 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक 'अंजुमन-ए-

तरक्की-ए-उर्दू' में क्यो नही जाते ? उस प्लेटफार्म को ही 'हिन्दुस्तानी' के लिए क्यो नही अपनाते ? 'सम्मेलन' में रोज का टटा अच्छा नही। मेरे मन मे आया कि यदि 'हिन्दुस्तानी' का मच एक तीसरा वन जाए, 'सम्मेलन' तथा 'अजुमन के वीच मे, तो वहुत अच्छा हो। परन्तु यह सलाह किसे दी जाए! कैसे दी जाए!

घर वापस लौटते समय यही उधेड-वुन रही। घर आ कर एक शिगूफा मैं ने छोडा। अखवारो मे नीचे लिखे आशय का मजमून छपने भेज दिया—

'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' की स्थापना

वर्धा की एक चिट्ठी

वर्धा से एक मित्र ने मुझे एक पत्र द्वारा सूचना दी है कि काका कालेलकर आदि राष्ट्रवादी विद्वान्—'हिन्दुस्तानी' का प्रचार तथा समर्थन करने के लिए वहुत जल्दी 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' नाम से एक अखिल भारतीय सस्था वनाने वाले है, जो 'सम्मेलन' तथा 'अजुमन' के मध्य मे काम कर के दोनो को किसी समय आत्मसात् कर ले गी।"

पता नही कि मेरा यह मजमून काका कालेलकर आदि ने पढा, या मेरे साथ-साथ उन के मन मे भी स्वत वैसा विचार पहले ही पैदा हो चुका था, कोई डेढ-दो मास के भीतर ही खवर छपी कि वर्धा मे 'हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' की स्थापना की गई है। मुझे वडी खुशी हुई कि 'सम्मेलन' एक झगडे से वचा।

'सम्मेलन' मे सदा ही गुटबन्दी रही है और कांग्रेस में तो गुटबन्दी ने घृणित से घृणित रूप समय-समय पर प्रकट किया है, परन्तु यह सब गन्दगी नाक दबाए सहता रहा, वहाँ काम करता रहा। राष्ट्रभाषा के लिए तथा राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए खुल कर सब से आगे काम करने वाली सस्थाए इन के अतिरिक्त और थी नही कि वहाँ चला जाता ! परन्तु स्वराज्य मिलते ही कांग्रेस को और हिन्दी राष्ट्रभाषा बनते ही 'सम्मेलन' को नमस्कार कर लिया ! एक बोझ सिर से उतर गया। 'सम्मेलन' के भी संस्मरण बडे मनोरंजक है। कभी दिए जाएँ गे।

'हिन्दुस्तान' की प्रतियाँ मैं ने जलाई

साहित्यिक जीवन के इस उन्मेष का जब अन्तिम सिरा आया, तो एक काम मैं ने ऐसा किया, जिस के उल्लेख से इस जन की उद्दण्ड प्रकृति का पता आप को चल जाए गा। वह काम यही है कि दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' अखबार की पाँच प्रतियाँ खरीद कर मैं ने जला दी, राख को पावो से छितरा दिया और उस पर थूक भी दिया ! इस पत्र पर मैं ने इतना रोष क्यो प्रकट किया ? आज तक अन्य किसी भी पत्र-पत्रिका पर कभी भी इतना गुस्सा मेरे मन मे आया नही है। मेरी जलन का कारण 'हिन्दुस्तान' का एक सम्पादकीय मन्तव्य था, प्रमुख 'सम्पादकीय'। शीर्षक था—

"देशद्रोही सुभाष !"

सम्पादकीय विचार क्या था, नौकरी का घिनौनापन था। इसी अखबार ने किसी समय श्री सुभाषचन्द्र बोस की राष्ट्रभक्ति के प्रति सिर झुकाया था, प्रशसा के गीत गाये थे। नेताओ मे मतभेद होने पर वे आपस मे उलझें-सुलझें, अखबारो को अपना सन्तुलन न खो देना चाहिए। हमे तो यह देखना चाहिए कि कौन-सी नीति ठीक है। जो नीति अच्छी न जान पडे, उस का विरोध करो, परन्तु नेता के प्रति सम्मान रख कर। न जाने किस समय किस की जरूरत पड जाए। उस समय महात्मा गान्धी श्री सुभाषचन्द्र बोस की नीति का कडा विरोध कर रहे थे और इसी लिए अखबार वाले बोस की उपेक्षा तक करने लगे थे, परन्तु उन्हे 'देश-द्रोही' देश के किसी भी अन्य समाचार-पत्र ने न कहा था। 'हिन्दुस्तान' के प्रधान सम्पादक उस समय श्री सत्यदेव विद्या-लकार नाम के कोई सज्जन थे। शायद अपने मैनेजिंग डाइरेक्टर (महात्मा गान्धी के सुपुत्र) श्री देवदास गान्धी को प्रसन्न करने के लिए ही वह वैसा शीर्षक दिया हो और वह अनर्गल प्रलाप किया हो। मालूम नही, श्री गान्धी उन से प्रसन्न हुए, या अप्रसन्न ! मैं यह भी नही कह सकता कि चाटुकारिता ही उस लेख का प्रयोजन था। सम्भव है, सम्पादक जी के अपने विचार ही उस समय वैसे हो गए हो। मन ही तो ठहरा ! परन्तु मैं आपे से बाहर हो गया और यदि उस समय विद्यालकार जी कनखल में होते, या मै दिल्ली

होना, तो जरूर हम दोनो मे मारपीट तक हो जाती। मैं उवल पडा था। सो, उस अखबार की पाँच प्रतियाँ उस तरह जला कर ही शान्त हो गया और यह समाचार अखबारो मे भी छपा दिया था।

'हिन्दुस्तान' के उस सम्पादकीय लेख मे श्री सुभाषचन्द्र बोस के उस विचार को ही लक्ष्य बनाया गया था, जो उन्हो ने बम्बई की एक सभा मे शराब-बन्दी के सम्बन्ध मे प्रकट किया था। बोस ने यही कहा था कि शराब-बन्दी के सम्बन्ध मे जो नीति अपनाई जा रही है, उस मे दूरदर्शिता का अभाव है और निश्चय ही किसी समय इसे वापस लेना पडे गा। बस, बोस के इतना कहने पर ही 'हिन्दुस्तान' उस तरह भडक उठा था।

इस समय श्री सुभाषचन्द्र बोस को काग्रेस-अध्यक्षता छोड देने के लिए विवश होना पडा था और उन्हो ने एक पृथक् दल 'फार्वर्ड ब्लाक' नाम से स्थापित कर लिया था, जिस की नीति को ले कर वे देश का दौरा कर रहे थे। आगे उन की बडी अवज्ञा काग्रेस-सगठन मे की गई, जिस से मेरे जैसे लोग अत्यन्त दुखी हुए। इस से पहले जो इस सगठन मे लोकमान्य तिलक की तथा लाला लाजपत राय आदि की उपेक्षा-दुर्दशा की गई थी, वह भी आँखो के सामने आई और महर्षि मालवीय को जो दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर किया गया था, वह सब आँखो देखी चीज थी। समझ मे सब आ रहा था, परन्तु दुश्मन (अग्रेज) सिर पर लदा था, इस लिए अपने एक-

मात्र इस राजनैतिक सगठन का विश्लेपण करना उस समय उचित न था—'न वुद्धिभेद जनयेत् ।' स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर मैं ने 'मि० ह्यूम की परम्परा' 'स्वतत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति—श्री सुभाषचन्द्र वोस' तथा 'काग्रेस का सक्षिप्त इतिहास' लिख कर वह सब भेद प्रकट जरूर किया ।

'इद कविभ्य पूर्वेभ्यो नमोवाक प्रशास्महे'

तृतीय उन्मेष

१९४१-५०

वस्तुत इसी तृतीय उन्मेष के उत्तराग को मेरे साहित्यिक जीवन मे निर्माण का श्रीगणेश समझना चाहिए, क्योकि इस समय देश स्वतत्र और हिन्दी भी राष्ट्रभाषा उद्घोषित हो चुकी और मेरे साहित्यिक विचार भी परिपक्व हो चुके, तब मैंने नमूने के रूप मे कई छोटी-छोटी पुस्तके लिख कर हिन्दी-जगत् को भेंट की। सोचा, अब 'काग्रेस' तथा 'सम्मेलन' के काम मे छुट्टी मिली और अब स्वकीय 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्तताम्'। मेरी इन चीजो की क्या स्थिति-गति हुई, यह बाद मे बताया जाए गा, क्योकि यथाक्रम चलना ही ठीक है। हॉं, स्वराज्य-प्राप्ति से पहले 'ब्रजभाषा का व्याकरण' जरूर लिखा गया था, जो अपने विषय का आधार भूत ग्रन्थ है। इस की भी एक कहानी है। परन्तु इस से पहले की कुछ घटनाएं उल्लेखनीय है।

काश्मीर में हिन्दी-प्रचार

अबोहर-'सम्मेलन' मे एक अच्छी खासी धनराशि काश्मीर मे हिन्दी-प्रचारार्थ निकाली गई थी। मैं सरकारी नौकरी से अलग था ही और यथा-तथा घर-गृहस्थी का खर्च चला रहा था। राजर्षि टंडन का ध्यान चारो ओर रहता है।

मे 'सम्मेलन' की ओर से काश्मीर मे हिन्दी-प्रचार के लिए नियुक्त किया गया। गरमी के दिन थे, घर के खर्च से चिन्ता-राहित्य, हिन्दी की सेवा और काश्मीर की सैर! और चाहिए क्या? इधर-उधर बात करने से मालूम हुआ कि काश्मीर मे बरसात के दिन अच्छे रहते है—खूब फल खाने को मिलते है। तब तक टडन जी की आज्ञा हुई कि पहले पजाब मे काम करो, तब काश्मीर जाओ। पजाब मे काम करने को यह दिया कि आर्यसमाज, सनातनधर्म-सभा तथा देव-समाज आदि के स्कूलो मे शिक्षा का माध्यम हिन्दी कराया जाए। 'लोकसेवक-मण्डल' (लाहौर) के श्री अचिन्त्यराम जी मुझे जानते थे, क्योकि अबोहर-अधिवेशन के तुरन्त बाद राजर्षि टडन के साथ मै वहाँ गया था और कई दिन तक ठहरा था। फिर भी टडन जी ने एक परिचय-पत्र लिख दिया था, जिस मे यह भी लिखा कि वाजपेयी के काम मे पूरा योग-सहयोग देने की जरूरत है। टडन जी इस सस्था के तब भी अध्यक्ष थे।

लाहौर पहुंच कर मैने उसी ऐतिहासिक कोठी के एक कमरे मे डेरा लगाया, जो राष्ट्रीय दृष्टि से हमारा एक तीर्थ है, क्योकि लाला लाजपत राय के रहने की वह कोठी है। जब लाला जी लाहौर में वकालत करते थे, तब इसी कोठी मे रहा करते थे, जो डी० ए० वी० कालेज के सामने ही है। जब लाला जी ने 'लोकसेवक-मण्डल' की स्थापना की, तो यह कोठी उसी को दे दी थी। इसी कोठी से सटी हुई वह

भव्य इमारत है, जो वाद मे लाला जी की स्मृति मे वनवाई गई थी। इसी इमारत मे 'मण्डल' के सव कार्यालय आदि थे। जिस कोठी मे उस समय मै ठहरा, उसी मे वैठकर किसी समय सरदार भगतसिंह ने शिक्षा ग्रहण की थी। सन् २०–२४ के आन्दोलन मे या उस के वाद देश भर मे कई वडी सस्थाए राष्ट्रीय पद्धति पर शिक्षा देने के लिए स्थापित हुई थी—काशी-विद्यापीठ, गुजरात-विद्यापीठ, तिलक-विद्यापीठ आदि। उसी समय लाला जी ने 'नेशनल कालेज' की स्थापना की थी, जो व्यवहारत एक विश्वविद्यालय के रूप मे था। इन की अपनी परीक्षाए होती थी। 'चाँद' के सुप्रसिद्ध सम्पादक प० नन्द किशोर तिवारी इसी सस्था के 'वी० ए०' है। शायद इस कमरे मे भी सरदार भगतसिंह वैठ कर कभी पढे हो, जिस मे मै रह रहा हूं, यह अनुभव कर के सुख हो रहा था।

अव हिन्दी का काम शुरु किया, जिस का पहले कभी अनुभव न था। उन स्कूल-कालेजो के सचालक वडे-वडे 'राय वहादुर' आदि थे। मेरा उन पर कोई प्रभाव न पडता था। रग-रूप, वेश-विन्यास, वोलचाल, सभी मे भदरग था। गोस्वामी प० गणेशदत्त जी से वातचीत की, पर वहाँ भी दाल न गली। 'देवसमाज' के केन्द्र मे गया, तो उन्हो ने वहुत आशा दिलाई, पर इस समाज की सस्थाए वहुत न थी। मै वहुत निराश हुआ और पन्द्रह-वीस दिन मे अनुभव कर लिया कि यह काम मुझ से हो गा नही। तव काश्मीर

की सैर में 'सम्मेलन' जैसी राष्ट्रीय सस्था का पैसा व्यर्थ क्यो खर्च किया जाए, सोचा। टडन जी को चिट्ठी लिखी कि 'मुझ से यह काम न होगा' मेरा कोई प्रभाव नही पड रहा है—शरीर तथा रहन-सहन ऐसा नही कि 'राय वहादुरो' पर कुछ प्रभाव पडे। मै अनुभव कर रहा हू कि मेरे द्वारा खर्च किया गया पैसा व्यर्थ जाए गा, इस लिए काश्मीर जाने की इच्छा नही है। मुझे वापस आने की आज्ञा दीजिए।'

राजर्षि ने इस पत्र का उत्तर कुछ गुस्से मे दिया, मुझे झिडका भी और धैर्य से काम करने की सलाह दी। लिखा था—"मुझे विश्वास है, तुम्हारे द्वारा खर्च किया गया पैसा व्यर्थ न जाए गा। फल देर मे ही निकलता है। तुम तो वीज डाल रहे हो, फल तुरन्त कैसे दिखाई दे गा? काम करो।" प्रभाव के वारे मे उनका कहना था—'मेरा शरीर क्या वहुत भारी-भरकम है? क्या मेरा रहन-सहन तडक-भडक का है?' टडन जी ऋषि है और मै एक साधारण व्यक्ति, इस भेद को समझाने के लिए मै ने वहस का कोई उत्तर न दिया और कागज-पत्रो का वस्ता वाँध 'सम्मेलन' वापस पहुँचा। राजर्षि वहुत नाराज हुए। फिर दूसरा काम वताया, 'सम्मेलन' के अगले अधिवेशन के प्रवन्ध मे मदद करने के लिए—

'भैणी साहव' जाओ

'भैणी साहव' लुधियाना जिले मे नामधारी सिक्खो का अत्यन्त प्रतिष्ठित गुरुद्वारा है, जहाँ से 'सम्मेलन' को अगले

अधिवेशन के लिए अबोहर मे निमन्त्रित किया गया था। निमन्त्रण सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ था, यह सोच कर कि इस का प्रभाव सिख-समुदाय पर बहुत अच्छा पडेगा। साधारण सिख लोग उस समय उर्दू मे प्रेम करते थे, हिन्दी से बिदकते थे। इस सम्बन्ध मे एक अनुभव लायपुर मे हुआ—जब इस प्रचार-यात्रा मे 'लाजपतराय-भवन' (लाहौर) से मै दो दिन के लिए लायपुर गया था। उस समय श्री हसराज एम० ए० वहाँ गवर्नमेट कालेज मे अध्यापक थे और हिन्दी-प्रचार का अच्छा काम कर रहे थे। प्रोफेसर साहब ने गवर्नमेट कालेज मे मेरा व्याख्यान कराया। सभा मे हिन्दू-मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सभी तरह के छात्र थे, कुछ प्रोफेसर भी। हिन्दी का समर्थन मै ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किया, परन्तु सिखो के सम्बन्ध मे कुछ धार्मिक पुट भी दिया। मै ने कहा—"सिख लोग हिन्दी नही पढते है, इसी लिए गुरु-ग्रन्थ साहब का अर्थ करना भी भूले जाते है, क्यो कि गुरुओ की वाणी अस्सी प्रतिशत हिन्दी है।" इस पर एक उच्च श्रेणी का छात्र खडा हो गया और बोला—'पडित जी, जबान का मजहब से क्या ताल्लुक?' मै ने कहा, बैठिए सरदार जी, सुनिए। देखिए, गुरुगोविन्द सिंह को यदि कोई 'उस्ताद गोविन्द सिंह' कहे, या 'गुरु-ग्रन्थ' को 'उस्ताद की किताब' या 'किताबे उस्ताद' आदि कुछ कहे, तो आप को कैसा लगेगा? 'अमृत' को 'आबेह्-यात' आप कहेंगे क्या, जिसे 'छक कर' सिख होते है?" इसपर उस नौजवान सिख का चेहरा उतर गया और उसने हिन्दी का

विवशत मूक-समर्थन किया। यही बात आम तौर पर सिखो मे थी, अब भी है। केवल नाम-धारी सिख कुछ हिन्दी की ओर आकर्षित हुए थे, राष्ट्रीय दृष्टिकोण को ले कर। सिखो का यह वर्ग राष्ट्रीयता को ले कर ही प्रादुर्भूत हुआ था और इस देश मे सब से पहले इन्ही (नामधारी) सिखो ने अपने गुरु के आदेश से प्रबलतम असहयोग अंग्रेजी राज से किया था। इसी परम्परा का प्रभाव था कि 'भैणी साहब' मे 'सम्मेलन' निमन्त्रित हुआ था। परन्तु 'भैणी साहब' एक छोटा सा गांव है—रेलवे स्टेशन (लुधियाना) से काफी दूर। वहाँ 'सम्मेलन' के विधि-विधान तथा इस की परम्पराओ की जानकारी किसी को थी नही। इसी लिए श्रद्धेय टंडन जी ने मुझे वहाँ भेजा था।

'भैणी साहब' का वातावरण एकदम सात्त्विक है। 'गुरु का लगर' चौबीसो घटे जारी रहता है, चाहे जो, चाहे जिस समय आए, भोजन उसके लिए तयार मिले गा।

मै वहाँ पहुंच कर काम शुरू भी न कर पाया था कि—

सन् ४२ का आन्दोलन

शुरू हो गया। अगस्त की ९-१० तारीखो के अखबार तेज खबरो से धधक रहे थे। मेरा मन काबू से बाहर हो गया। कूद पडने को जी मचल पडा। गुरु जी ने कहा, देखिए तो सही कि आगे होता क्या है। परन्तु तारीख ११ तथा १२ को देश भर से गरम खबरे आई। मै ने गुरु जी से निवेदन

किया कि इस समय अधिवेशन होना सम्भव नहीं है और हुआ भी तो निर्जीव हो गा । और, मैं तो अब काम कर ही नहीं सकता । मेरा मन ही न लगे गा । मैं ने निवेदन किया कि काम रोक दो, फिर देखा जाए गा । उन्हों ने कहा कि यदि ऐसी बात है, तो आप ही 'सम्मेलन' को एक पत्र लिख दीजिए, जिस पर मैं भी हस्ताक्षर कर दूं गा ।

गुरु जी की सलाह से 'सम्मेलन' को मैं ने पत्र लिखा कि "देश की वर्तमान स्थिति मे 'सम्मेलन' के अधिवेशन की चर्चा जोर न पकडे गी, लोगो का ध्यान दूसरी ओर हो गया है, इस लिए कुछ दिनो की प्रतीक्षा आवश्यक समझ कर कार्य स्थगित करना स्वागत-समिति जरूरी समझती है । सूचनार्थ निवेदन है ।,,

इस पत्र पर गुरु जी के हस्ताक्षर कराए और मैं ने कहा कि आज १३ तारीख है, पर डाक तो निकल चुकी है, इस लिए १४ तारीख डाल दीजिए । कल (१४ तारीख को) रजिस्टरी लिफाफे मे भेज दीजिए गा । गुरु जी ने अपने हस्ताक्षरो के नीचे तारीख डाल दी । फिर मैं ने हस्ताक्षर किए और १४ ता० डाल दी । लिफाफे पर पता लिख दिया । दूसरे दिन डाकखाने की तारीख-मुहर भी लगी ही हो गी । उस समय सध्या के ५ वजे थे । रात मे एक ही गाडी पजाव से हरिद्वार को चलती है, उसी के लिए मैं तुरन्त स्टेशन को चल पडा । हरिद्वार पहुंच कर मै जिस ववडर में फंसा, उस से मुझे उस '१३ तारीख' ने खूब बचाया, वडी मदद की । वात यह हुई कि—

१४ अगस्त को हरिद्वार भड़क उठा !

मै सवेरे ही हरिद्वार पहुंचा। पलीता तयार था। दिन बजते-बजते आग लग गई। वह सभी कुछ हुआ, जो देश मे अन्यत्र हो रहा था। गोली भी चली और उस मे ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज का एक छात्र तुरन्त ठंढा हो गया। इसी कालेज के छात्रो ने सब मे तेज काम किए थे। दो दिन तक हरिद्वार, कनखल तथा ज्वालापुर मे 'स्वराज' इस अर्थ मे रहा कि अंग्रेजी राज समाप्त था। डाकखाने जले-भुने पडे थे। सन्नाटा था। फिर फौज आई, आतक बैठाया गया और गिरफ्तारियाँ हुई। इस समय मेरी गिरफ्तारी इस धूमधाम से हुई थी कि घरवाले घबरा गए थे। चारो ओर से घर को सशस्त्र पुलिस ने घेर लिया था और बडे थानेदार खूब लैस हो कर 'बडी सावधानी से' मेरे कमरे में घुसे थे। न जाने क्यो इतना डर समा गया था। थानेदार ठाकुर राम-चन्द्र सिंह (जो इस समय सुपरिन्टेण्डेट है) मुझे बहुत पहले से जानते थे। वे जानते थे कि मै अहिंसावादी काग्रेसी नहीं हूं, तिलक तथा सुभाष के मार्ग का समर्थक रहा हूं। परन्तु केवल सिद्धान्त की बात थी। व्यवहार मे सदा ही मै पीछे रहा—फांसी के लिए तयार न था। कुछ तो मेरे विचार और कुछ देश की तथा स्थानीय वैसी स्थिति, सो पुलिस को वैसी तयारी करनी पडी। मेरे पास रखा ही क्या था। तलाशी हुई और कुछ नही। परन्तु श्रीमती जी, चि० मधुसूदन तथा चि० सावित्री, ये तीनो ही इस समय घबरा गए थे,

न जाने क्या हो गा ! परन्तु आंसू किसी ने भी नही निकाले, यह मेरे लिए गौरव की बात। चलने समय संभलाने को था ही क्या ? कह दिया कि मायके चली जाना। मुझे तो विश्वास था कि ता० १४ की घटनाओं से मेरा सम्बन्ध किसी तरह जोड़ा नही जा सकता, क्यों कि उस दिन मेरी उपस्थिति 'भेणी साहब' मे प्रमाणित हो जाए गी !

खैर, मुझे पहले तो सीधे जेल भेज दिया, जहां मै अपने नजरबन्द साथियो के साथ लगभग एक सप्ताह रहा। 'हवालात मे बन्द करने' 'यदि मुकदमा चलाना होता' यह सोच कर निश्चिन्त हो गया, परन्तु इधर पुलिसवाले मुकदमा तयार कर रहे थे और घटना पर 'काम' करने वालो से पृथक् मेरा मामला रखना चाहते थे—प्रेरक होने का अपराध समझा ! एक दिन पुलिस का दस्ता जेल के फाटक पर पहुंचा। जेलर ने मुझे बुला कर कहा, पुलिस तुम्हे ले जाने के लिए खडी है, तयार हो जाओ। यह सुन कर मेरे साथी भी चिन्ता मे पड गए—सब के चेहरे उतर गए ! परन्तु बस किसी का क्या था ! फाटक पर पहुंचा, तो पुलिस के हवलदार ने कहा—'दाहिना हाथ बाहर निकालो।' केवल एक हाथ मे हथकडी पहनाई, परन्तु कलाई मे वह बहुत ढीली बैठी, तब रस्से से मजबूती लाई गई और तब मुझे फाटक के बाहर किया गया ! रुडकी ला कर उन हवालातियो के साथ बन्द कर दिया गया, जिन्हे 'काम' करते पकडा गया था। परन्तु मेरा मुकदमा उन से पृथक् पहले ही पेश हो गया। पुलिस मामला साबित

न कर सकी, तब एक अपराध रह गया। कहा गया कि 'गैर कानूनी जमात (कांग्रेस) के ये डिक्टेटर रहे।' मजिस्ट्रेट ने इस पर मेरी सफाई माँगी, पर मैं ने स्वीकार कर लिया कि हरिद्वार यूनियन कांग्रेस का मैं डिक्टेटर बना था। स्वीकार करना ही था, लिखित प्रमाण था। मुझे अपने छूटने का कतई विश्वास न था। मुकदमा सुनने के लिए जो हरिद्वार-कनखल की भीड जमा थी, उस मे मेरा लडका चि० मधुसूदन भी खडा था, जो मुझे हथकडी पहने देख कर न जाने क्या सोच रहा हो गा!

मेरा अंग्रेजी-ज्ञान

मेरी अंग्रेजी भाषा वैसी ही है, जैसी कि टाँगेवालों की या रेल के कुलियों की होती है, परन्तु विश्वास इतना कि मुझे गलत कोई फंसा नही सकता है—बात समझ मे आ जाए गी। किन्तु कभी-कभी यह विश्वास धोखा दे जाता है। जिस मुकदमे का उल्लेख पीछे हुआ है, उस मे भी ऐसा ही हुआ। अंग्रेजी-ज्ञान की मेरी बात सुनकर अंग्रेज मजिस्ट्रेट, पुलिस-इंस्पेक्टर ठाकुर रामचन्द्र सिंह और कोर्ट-इंस्पेक्टर ही नही, वहाँ इकट्ठे सभी लोग हँस पडे! बात यह हुई कि जब और अपराध साबित न हो सके और एक ही अपराध रह गया (जिसे मैं बडा समझता था, परन्तु अदालत ने बहुत हलका समझा) तो, जुर्माना ही काफी सजा समझी गई। मजिस्ट्रेट और पुलिस के आदमी आपस मे अंग्रेजी मे सलाह कर रहे थे कि

कितना जुर्माना वसूल हो जाए गा। पुलिस-इन्स्पेक्टर ने मेरी हैसियत बताई होगी और कहा कि पचास रुपये खाट-खटोलों से वसूल हो जाएं गे। तलाशी में सब देख गए थे। घडी तथा मेज-कुर्सियां ध्यान मे थीं, इस लिए पचास वसूल हो जाने की बात कही। मैं ने उन लोगो की बात-चीत मे 'फिफ्टी'—'फिफ्टी' जो बार-बार सुना, तो यह समझा कि पुलिस-वाले यहाँ भी शैतानी कर रहे हैं और मजिस्ट्रेट को यह बना रहे हैं कि इसे ५०) रु० मासिक वेतन मिलता था! पचास से ऊपर वाले को तब 'बी' क्लास जेल मे मजिस्ट्रेट की दी हुई मिलती थी। मैं ने समझा कि मुझे 'सी' मे डालने के लिए पुलिसवाले अंग्रेजी में मेरा ५०) रु० मासिक वेतन बता रहे हैं! मैं गरम हो उठा और कडक कर बोला—'फिफ्टी नहीं, सिक्सटी'! मेरी बात सुन कर मजिस्ट्रेट तथा पुलिसवाले चक्कर मे पड गए—वे कुछ समझ न सके कि बात क्या है। मजिस्ट्रेट ने पुलिस-इस्पेक्टर की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देखा। वह क्या उत्तर देता! तब उस ने मुझ से पूछा कि आप ने क्या समझ कर 'फिफ्टी नही, सिक्सटी' कहा है? मैं ने कहा कि "आप अदालत को धोखा दे रहे है।" इस पर मजिस्ट्रेट का कुतूहल और भी बढ गया। उस ने समझा कि मुलजिम वस्तुत सत्य और अहिसा का पुजारी है, इस लिए कह रहा है कि 'सिक्सटी' वसूल हो सकता है। ठाकुर रामचन्द्र सिह मेरी अंग्रेजी की योग्यता जानते थे। उन्हो ने फिर पूछा—'हम ने क्या धोखा अदालत को दिया?'

—"यही कि मेरा वेतन आप पचास रुपए वता रहे है। यह धोखा नही है क्या ?"

"वेतन की वात नही , जुर्माने की वात है कि पचास रुपया वसूल हो सकते है।"

"हूं ! यह वात है ! तव जुर्माना तो एक कौडी भी वसूल न होगा।'

इस पर मजिस्ट्रेट तुरन्त वोला—

"वो सव हो जायगा। अदालत उठने तक तुम को कैद की भी सजा दी गई।"

मुझे यो अदालत उठने तक वही वैठा रखा और पुलिस मेरा समान कुर्क करने चली गई। घर जा कर पुलिस तथा उस के सहायक लोगो ने मेरी स्त्री को समझाया कि पचास रुपए दे दो, तो वाजपेयी जी अभी छूट कर आ जाएं। यह भी कहा कि रुपये न हो, तो हम दे दे , फिर वाजपेयी जी से हम लेते रहे गे। परन्तु मेरी गृहणी ने यह कुछ स्वीकार न किया। तव पुलिस मेरा सामान कुर्क कर ले गई, जो लगभग डेढ़ सौ का था। कनखल-हरिद्वार मे किसी ने नीलाम पर 'वोली' ही न वोली, तव वह सव रुडकी लद गया था। वहाँ नीलाम हुआ हो गा।

उधर अदालत उठने से पहिले ही मै ने अपने लडके (चि० मधुसूदन) से कहा कि "गाँधी आश्रम से एक झडा जा कर मोल ले आओ और मकान पर लहराओ, मै आ रहा हूं।" उस समय तक गाँधी-आश्रम सरकारी प्रवन्ध मे न गया था।

मेरे घर पर जो तिरंगा झंडा लहरा रहा था, उसे गिरफ्तारी के समय ही पुलिस वाले उतार लाए थे। मैं छूट कर जब घर पहुंचा, तो झंडा लहराया जा रहा था, लोग खड़े देख रहे थे। उस समय कनखल, हरिद्वार तथा ज्वालापुर में केवल एक ही झंडा हवा में लहराता था। लोग कुतूहल, भय तथा उत्साह से देखते थे।

'सम्मेलन' का वह अधिवेशन ?

अब मुझे शान्ति थी, अपना भाग अदा हो चुका था। अब दूसरा काम सोचा। 'सम्मेलन' का अधिवेशन जरूर होना चाहिए। कुछ जागरण ही हो जाए गा। परन्तु जनता में एकदम सन्नाटा तब तक छा गया था। 'भेणी साहब' अधिवेशन न कर सका। तब लाहौर में 'प्रान्तीय सम्मेलन' वालों ने करना चाहा, किन्तु फिर वे भी आगे न बढ सके। तब लायलपुर के साहित्यिकों ने कहा कि यहाँ हो गा, किन्तु आगे वे भी चुप हो गए। तब 'सम्मेलन' की कार्य-समिति ने तै किया कि यह अधिवेशन प्रयाग में ही कर लिया जाए। इस निश्चय पर 'स्थायी समिति' की मुहर लगनी थी, जिसकी बैठक बुलाई गई। मैं भी इस बैठक के लिए प्रयाग पहुंचा और प० दयाशंकर दुबे के यहाँ ठहरा। दुबे जी उस समय परीक्षा-मन्त्री थे। आप प्रयाग-विश्वविद्यालय में अर्थ शास्त्र के प्राध्यापक हैं, गांधी जी के पूर्ण भक्त और पूर्ण सनातनी हैं। दारागंज में बहुत बढ़िया और विशाल आप का मकान है। उसी के नीचे के एक भाग में मेरे

पुराने मित्र और रिश्तेदार प० भगीरथ प्रसाद दीक्षित रहते थे और ऊपर एक कमरे मे साधुमना श्री भगवान् दास केला अपनी साधना मे रहते थे। भोजन दुबे जी के यहाँ मै ने किया, साथ में दीक्षित जी भी थे। बातचीत में 'सम्मेलन'—अधि-वेशन की चर्चा आई। दुबे जी ने कहा कि अब तो अधिवेशन प्रयाग मे ही होगा। मै ने कहा भाई, यह तो ठीक न हुआ कि 'सम्मेलन' की पूछ-पछोड करनेवाला कही कोई न मिला और और यो उसे स्वय ही अधिवेशन का प्रबन्ध प्रयाग मे करना पडा! "और फिर गर्मी के दिन है। लोग भुन जाएं गे, जो बाहर से आएं गे।"—दीक्षित जी ने कहा। मै ने भी अनुभव किया। तब दुबे जी ने कहा कि हरिद्वार मे अधि-वेशन कर लो न! उन्हो ने मजाक मे कहा होगा। दीक्षित जी ने अनुमोदन कर दिया। मै ने भी मजाक-मजाक मे कह दिया कि हरिद्वार में ही कर लो, क्या हर्ज है! परन्तु उन लोगो ने बात पकड़ ली और फिर मुझे इस के लिए प्रेरित किया। उत्साह तो मुझ मे था ही, प्रेम भी था, परन्तु पहले से कोई चर्चा न थी, यहाँ किसी से कोई सलाह कर के न गया था! एक विश्वास था कि अधिवेशन पर रुपयो की कमी न पडने पाए गी, क्यो कि कनखल-हरिद्वार तथा ज्वालापुर में मेरी इतनी सामाजिक सेवाएं है और ईमानदारी तथा सचाई की इतनी गहराई है कि किसी भी अच्छे काम के लिए मै यहाँ की साधारण जनता से दस-पाँच हजार रुपये चाहे जब ले सकता हूं—लकडी बेचनेवाला गरीब मजदूर भी प्रसन्नता से मेरी

झोली मे एक अठन्नी डाल देगा। यह विश्वास अनुभव पर कसा जा चुका है। सन् ४२ के अपने साथियो का मुकदमा मै ने हाई कोर्ट तक लडा था, जेल से छूट कर, जब कि साधारण जनता से कुछ न ले कर और 'बडे' आदमियो से बात भी न कर के अपने चार-पाँच मित्रो से ही काम चला लिया था। फिर वह तो 'सरकार' के विरुद्ध 'बागी' लोगो की मदद का सवाल था, जहाँ 'बडे' आदमी झाँक भी न सकते थे। 'सम्मेलन' के लिए तो मै उन से भी ले सकता था और मुझे विश्वास था कि कोई एक ही श्रद्धावान् सम्पूर्ण खर्च कर सकता है, जैसा कि आगे मेरे विद्या-शिष्य महन्त शान्तानन्दनाथ ने कर भी दिखाया। सो, अपने विश्वास पर मै ने निमत्रण दे ही दिया।

मुझे पता न था कि 'सम्मेलन' मे पुस्तकव्यवसायियो के बल पर जो दलबन्दी चलती रहती है, उस का सम्बन्ध अधिवेशन से भी है और दुबे जी भी किसी दल मे है। जब 'स्थायी समिति' मे निमन्त्रण पर चर्चा हुई, तब वह सब ज्ञात हुआ। दुबे जी के विरोधी अधिवेशन प्रयाग में ही करना चाहते थे और दुबे जी चाहते थे कि किसी तरह प्रयाग मे न हो। मै बीच मे फँस गया। जब निमन्त्रण दे ही दिया, तब पक्ष भी पड गया। बडी खीचतान हुई। मेरा भी बल था ही। अन्तत एक मत अधिक मेरे पक्ष मे रहा और हरिद्वार का निमन्त्रण स्वीकार हो गया।

हरिद्वार मे अधिवेशन खूब धूम-धाम से हुआ, महन्त शान्तानन्द जी ने सब खर्च सँभाल लिया और प्रबन्ध भी खूब

किया। 'सम्मेलन' की स्वागत - समितियो मे बदस्तूर जैसे झगड़े सर्वत्र होते रहे है, यहाँ भी हुए थे। ऐसे झगडो के कारण मुख्य ये है—१—सम्मेलन की नियमावली मे अधिवेशन की स्वागत-समिति के लिए कोई विधि-नियम नही है, कोई निर्देश नही, नियत्रण की कोई व्यवस्था नही है। २—स्थानीय जन अपनी-अपनी प्रसिद्धि तथा अन्यान्य स्वार्थो के लिए धना-चौकडी मचाते है। ३—सम्मेलन की गुटबन्दी स्वागत-समिति तक पहुँच जाती है और उसे भी विषाक्त कर देती है। 'सम्मेलन' मे जो विविध दल लडते-झगडते रहे है, उन की जडे वे इलाहाबादी पुस्तक-व्यवसायी है, जो बडे-बडे प्रेसो के मालिक तथा 'कोर्स' की पुस्तको के 'प्रकाशक' है। सम्मेलन-परीक्षाओ मे अपनी पुस्तके लगवाने के लिए वे लोग कुछ साहित्यिक नौकर रखते है, 'सम्मेलन' मे गुट बनाने के लिए। प्रकाशको के पैसे पर ये लोग अधिवेशनो मे जाते है, स्वागत-समितियो को प्रभावित करते है, सब कुछ करते है कि 'स्थायी समिति' पर अपना कब्जा रहे! ये ही उस भयकर बीमारी के कीडे है, जिसे 'सम्मेलन' का तपेदिक कहते है और आज जिस मे वह जकड गया है। अन्यत्र विस्तार से इस की चर्चा की जाए गी।

हाँ, तो हरिद्वार-सम्मेलन खूब धूम-धाम से हुआ। मेरे सम्बन्ध मे इतना समझिए कि साहस, धैर्य, बुद्धि तथा सहिष्णुता का प्रयोग मैं ने इस यज्ञ मे जितना किया, और कभी भी, कही भी जन्म भर में नही किया! साहस तो अन्यत्र भी, परन्तु बुद्धि तथा सहिष्णुता का ऐसा उद्रेक मुझ में और कभी नही हुआ!

ब्रज भाषा का व्याकरण

'सम्मेलन का अधिवेशन सुसम्पन्न हो जाने पर मैं प्रयाग गया, इस टोह में कि अब कुछ काम ढूंढना चाहिए रोटी का। जो कुछ था, समाप्त हो चुका था, कर्ज भी हो गया था और गृहिणी के जो दो-तीन गहने उस के पिता के दिए हुए थे, वे भी बेच खाए थे। उस समय 'सम्मेलन' के प्रधान मन्त्री थे डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, जो आजकल सागर-विश्वविद्यालय के वाइस चासलर है। मैं त्रिपाठी जी से मिलने उन के बगले पर गया। बात-चीत में त्रिपाठी जी ने स्वत कहा—"आप सम्मेलन के लिए कुछ पुस्तकें लिख दे, तो अच्छा रहे।" प्रश्न करने पर मैं ने निवेदन किया कि "रस, अलकार तथा व्याकरण पर मैं मौलिक पुस्तके लिख सकता हूँ और हिन्दी मे इन विषयों की बडी ही दुर्गति है।" त्रिपाठी जी ने स्वीकार किया और मुझे एक पत्र लिख दिया, सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री के नाम। साहित्य-मत्री उस समय थे—श्री रामचन्द्र टण्डन जी, 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' के वैतनिक अधिकारी थे। वही मैं उन से मिलने गया। मेरे साथ प० भगीरथ प्रसाद दीक्षित भी थे। जा कर नमस्ते आदि हुई और तब मैं ने उन्हें प्रधान मत्री का वह पत्र दिया। उन्हो ने पूछा—"तो, पहले आप किस विषय पर लिखना चाहे गे?"

—"पहले तो व्याकरण ही लिखना ठीक होगा, तब अलकार और रस। यही क्रम ठीक रहे गा।"

—"व्याकरण पर आप क्या मौलिक चीजे दे गे।

व्याकरण तो प० कामता प्रसाद गुरु का है ही।"

—"मै उन व्याकरणो को जानता हूं, तभी तो कहता हूँ कि हिन्दी मे एक व्याकरण-ग्रन्थ की जरूरत है। 'गुरु जी का वह व्याकरण तो एकदम गलत आधार पर बना है और उसी के आधार पर बने ये शतश—सहस्रश व्याकरण जो देश भर मे चल रहे है, एकदम कूडा-कर्कट है! अज्ञान फैला रहे है।"

—"क्या सभी व्याकरण गलत है? आप तो बडी विचित्र बात कह रहे है!"

—"जी हाँ, हिन्दी के सभी प्रचलित व्याकरण गलत है। वस्तुत हिन्दी का व्याकरण अभी तक बना ही नही है!"

टडन जी ने मेरी ये बाते इस तरह सुनी, जैसे कि कोई सनकी कुछ कह रहा हो और एक विज्ञ-श्रोता सुन रहा हो। वे बोले—

"जहाँ तक रस अलकार की बात है, आप को मै 'अथारिटी' मान सकता हूं। परन्तु व्याकरण तो ऐसी चीज नही। इस मे क्या बदले गा? पर आप जब कहते है, तो ठीक! पहले आप इस व्याकरण-विषय पर हिन्दी के विद्वानो से परामर्श कर ले, तब आगे बात चले।"

—"वे कौन से विद्वान् है, जिन से व्याकरण के विषय में मै परामर्श करूं?"

—"ये ही विद्वान्—डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना आदि।"

—"परन्तु मेरे तत्त्व तो मौलिक है। कही ऐसा न हो कि मै परामर्श करूँ और मेरी चीज कोई ले उडे! मै पुस्तक लिखने मे लगा रहूँ और और मेरी मौलिक चीजे पहले ही कोई किसी लेख मे कही प्रकाशित करा दे, तब मै क्या करूँगा? यदि ऐसा न भी हुआ, और पुस्तक मै ने लिख भी दी, तो भूमिका मे आप प्रकाशक की हैसियत से लिखेगे कि अमुक-अमुक विद्वानो के परामर्श से यह पुस्तक लिखी गई है! इतना लिख देने पर मै तो एक क्लर्क भर हिन्दी-जगत् मे समझा जाऊँगा। उन 'डाक्टर' विभागाध्यक्षो से मै दब जाऊँगा। इस लिए मै वैसा परामर्श किसी से न करूँगा।"

—"तो फिर व्याकरण पर आप से कुछ लिखवाना वैसा ठीक नही है। सभी व्याकरणो को उलट कर आप कोई चीज लिखना चाहते है और फिर किसी का परामर्श भी नही!"

—"जिन से परामर्श लेने के लिए आप कह रहे है, उन के ग्रन्थो का भी निराकरण सम्भावित है।"

—"हो सकता है। परन्तु तब आप से हमारा (समेलन, का) काम न चलेगा।"

इस पर मै उठ खडा हुआ, दीक्षित जी भी चुपचाप खडे हो गए। मै सम्मेलन-भवन (सत्यनारायण-कुटीर) जा कर सोच मे पड गया, क्या करना चाहिए! परन्तु निश्चय कर लिया और श्री 'रामनारायणलाल' के यहाँ (कटरा) जा कर 'लेखन-कला' बेचने की चर्चा की। उन्हो ने तुरन्त नगद पाँच सौ रुपए दे दिए। मै ने वे रुपए लिए। उन

मे से दो सौ घर भेज दिए, पचास अपने खर्च के लिए रखे और ढाई सौ रुपए कागज खरीदने के लिए 'हिन्दी प्रेस' के मालिक को दे दिए। 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिखने लगा और वह साथ-साथ छपने भी लगा। सम्पूर्ण व्याकरण लिख जाने पर अपने एक रिश्तेदार साहित्यिक (लखनऊ के प० गिरिजा प्रसाद द्विवेदी) से पता चला कि डा० धीरेन्द्र वर्मा का भी एक ब्रजभाषा-व्याकरण है! मै यह सुन कर कुछ घबराया! कहीं मैं पिष्ट-पेषण तो नहीं कर गया! जब मै छोटा था, तभी से ब्रजभाषा - व्याकरण की माँग सुनता आ रहा था। इसी लिये श्रम किया था। मुझे मालूम होता कि डा० वर्मा ब्रजभाषा का व्याकरण लिख चुके है, तो मै क्यो उधर मरता! खैर, पुस्तक प्राप्त की, तो वह कर्कट का ढेर निकली! तब परिशिष्ट में उस का परिचय दिया! भूमिका मे 'गुरु' आदि के व्याकरणो की ऐसी आलोचना की, जिस से कि एक भूचाल आ गया—उथल-पुथल मच गई! तब से वाच्य-परिवर्तन कराने के प्रश्न आने बन्द हो गए और हिंदी के नए व्याकरण की माँग होने लगी।

'ब्रजभाषा का व्याकरण' हिन्दी-जगत् के लिए एक युग-परिवर्तनकारी चीज के रूप मे प्रसिद्ध है, इसलिए इस पर कुछ अधिक कहना व्यर्थ है।

पोद्दार जी का अभिनन्दन

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का अभिनन्दन 'ब्रजसाहित्य-मण्डल' के तत्वावधान में, मथुरा मे सम्पन्न हुआ, जिस मे

मे भी गया था। 'मण्डल' के सम्बन्ध मे जो कुछ कहना है, इकट्ठे कहूंगा, जब 'सभा' 'सम्मेलन' 'एकेडेमी' तथा 'हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा' आदि सस्थाओ के सस्मरण कभी लिखूंगा। इस अभिनन्दन-उत्सव पर घटित एक घटना का उल्लेख करना है।

इस अभिनन्दन-उत्सव की अध्यक्षता प० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने की थी, जिन के साथ श्री महावीर त्यागी भी वहाँ उपस्थित हुए थे। पालीवाल जी को मै 'साहित्यिक' भी समझता हूं, इसी लिए उत्सव मे सम्मिलित होना मै ने अस्वीकार नही किया। यदि कोई 'केवल राजनैतिक' नेता अध्यक्ष होते, तो मै कभी भी वहाँ न जाता। कारण, मै ने बहुत पहले समझ लिया था कि राजनैतिक नेता लोग कभी भी साहित्यिक का वैसा मान इस देश मे नही चाहते, जो उनसे बढ कर जनता की आँखो मे समाए। बहुत पहले काशी के साहित्यकारो ने श्री मैथिलीशरण गुप्त के सम्मान का एक आयोजन किया था, जिस मे उन्हे अभिनन्दन-पत्र समर्पित करना था। उस समय देश के एक सर्वमान्य पूज्य नेता वहाँ पहुंचे हुए थे। लोगो ने सोचा कि इन के हाथो यदि अभिनन्दन-पत्र समर्पित कराया जाए, तो सोने मे सुगन्ध पैदा हो जाए। निवेदन स्वीकार हुआ और सभा-मच पर जब महान् नेता ने आशीर्वाद देना शुरू किया, तो पहले यही कहा —"ऐसे समारोह तो मृत्यु के बाद ही अच्छे लगते है।" मै उस समय उस समारोह मे न था, समाचार-पत्रो मे यह पढा था।

दिल को चोट इसलिए लगी कि राजनैतिक नेताओ के सम्मान में एक से एक वढ कर आयोजन तव होते रहते थे और जिन पूज्यवर ने वे शब्द कहे थे, उन के अभिनन्दन तो वहुत धूम-धाम से होते थे। गुप्त जी का तो वह एक प्रासगिक या नैमित्तिक अभिनन्दन था। यह वात मुझे याद थी।

परन्तु उत्सव मे एक ऐसी घटना घट गई, जिस ने मुझे उत्तेजित कर ही तो दिया। वात यह हुई कि उत्सव के प्रारम्भ मे ही सयोजक महोदय ने वधाई के तार-पत्र आदि जो पढे, उन में हमारे राज्य (उत्तर प्रदेश) के मुख्य मत्री का भी एक तार था, जो उन की ओर से उन के प्राइवेट सेक्रेटरी ने भेजा था। वधाई थी। प्राइवेट सेक्रेटरी ने मुख्य मत्री की ओर से तार भेजा है, यह सुन कर मुझे गुस्सा आ गया। मै पन्त जी के शील-सौजन्य से परिचित हू। सन् १९३१ में जव गान्धी-इर्विन पैक्ट के अनुसार पुन उसी जगह 'सर्विस' में जाने को मुझे अवसर मिला, तो एक राष्ट्रीय विजय समझ कर मैने इसे ग्रहण किया था और 'सरकारी' अधिकारियो ने अपनी पराजय समझी थी, जिन्हो ने पहले 'आस्तीन का साँप' कह कर वर्खास्त किया था। उन्हो नें मुझे पुन सर्विस मे लेनें से इनकार कर दिया था। यद्यपि मुझे आगरे के डी० ए० वी० हाई स्कूल मे अच्छी जगह मिल रही थी; पर मैं ने हरिद्वार पहुचना ही उचित समझा, विशेपत तव, जव कि उस अधिकारी ने मना कर दिया। मैं ने वायसराय, प्रान्त के गवर्नर, अ० भा० कांग्रेस कमेटी, प्रान्तीय काग्रेस कमेटी तथा

महात्मा जी को सूचित किया कि 'गान्धी इर्विन पैक्ट' की क्या दुर्दशा सरकारी अधिकारी कर रहे हैं। मेरी यह चिट्ठी श्री महेन्द्र जी ने अंग्रेजी मे टाइप की थी, 'सैनिक'-कार्यालय में, जहां वे उस समय काम करते थे। कुछ दिन बाद प्रान्तीय कांग्रेस से उत्तर आया कि आप का मामला प० गोविन्द वल्लभ पन्त को सौपा गया है, उन्ही से आप 'हलद्वानी' के पते पर पत्र-व्यवहार करे। मै पन्त जी को पत्र लिख भी न पाया था कि उन के हाथ का लिखा हिन्दी में सुन्दर कार्ड मुझे मिला, अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण। लिखा था कि "एक पत्र आप डाइरेक्टर को भेज दीजिए, कल-परसो मै नैनीताल जा रहा हूं। वहां गवर्नमेंट-हाउस में आप की चर्चा करूंगा। काम वहुत जल्दी ठीक हो जाए गा।'

वह सब उसी तरह हुआ था। कहने का मतलब यह कि मुझे व्यक्तिगत रूप से तो पन्त जी पर श्रद्धा, परन्तु इस तार-प्रकरण से मै चिढ गया। क्या उन्हे तार पर हस्ताक्षर करने की भी फुर्सत नही! क्या रोज-रोज पोद्दार जी का अभिनन्दन होता है? क्या पोद्दार जी की सेवाए इस योग्य है कि प्राइवेट सेक्रेटरी एक चलतू रिवाज पूरा कर दे? जल-भुन गया और जब पालीवाल जी ने मेरा नाम वोलने के लिए लिया, तो उठ कर इसी प्रकरण पर पहले आध घटे तक मै बोला। पालीवाल जी उस समय 'सर्व त्यज कांग्रेस भज' की दीक्षा देश को दे रहे थे और 'मण्डल' वाले सरकारी दान की आशा में थे, इस लिए मेरे भाषण पर कुडमुडा रहे थे,

पर करते क्या ? मै ने कहा कि ऐसे राजनैतिक नेताओ के सन्देश मंगाए ही क्यो जाए, तो साहित्यिक को पहचानते नही! यदि भूल से मंगाया गया, तो इस तरह सेक्रेटरी का भेजा हुआ देख कर फाड क्यो न दिया गया ? सभा मे सुनाया क्यो गया ? सुनाया गया और हमे जलाया गया, तो फिर सुनने को भी तयार रहना ही चाहिए।

वहां तो कोई नही वोला, परन्तु सभा विसर्जित होते पर हम लोग जव आवास पहुंचे, तो पालीवाल जी विगड उठे और हम दोनो में खासी झडप हो गई। परन्तु पालीवाल जी ने मेरे कथन का औचित्य स्वीकार किया। वे केवल यह कह रहे थे कि आप वे सभा मे ही वैसे नेता को वैसे शब्द कहे, यह ठीक नही किया। मेरा कहना यह था कि सभा में ही जव पोद्दार के रूप में सम्पूर्ण साहित्यिक जगत् की वैसी स्थिति प्रकट हुई, तव वहाँ वह सव कहना ठीक था और वही कहना ठीक था।

अस्तु, इस प्रकरण से भी मै ने वहुत से अपने विरोधी ही वनाए। समझा गया कि 'मण्डल' की प्रगति में ऐसे भाषण वाधा डालते है।

एक और पुस्तक !

व्रजभाषा का व्याकरण लिख कर मैं ने जवर्दस्त अपने विरोवी वना ही लिए थे, जो अपने शिष्य-प्रशिष्यो के सहित देश भर के विश्वविद्यालयो पर तथा 'सम्मेलन' के परीक्षा-

विभाग पर अनन्त काल के लिए काबिज है , अब एक और पुस्तक लिख कर मैं ने एक बहुत बडी शक्ति को तथा हिन्दू जाति के एक शक्तिशाली वर्ग को अपने विरुद्ध सदा के लिए कर लिया। यह पुस्तक 'साहित्यिक' नही कही जा सकती, सामाजिक समझिए। मैं ने कभी इस तरह की कोई चीज न इस से पहले लिखी थी, न इस के बाद लिखी। वह उसी तरह की एक पुस्तक की वज्र-प्रतिक्रिया थी। इन दोनो पुस्तको के नाम-रूप एक है, जिन की याद भुला देना ही अच्छा। वह सब भुला देने के लिए ही मेरा वह वज्र-प्रहार था। अब सब ठीक है। वह क्षणिक विकृति दब गई। यदि न दबाई जाती, तो समाज में बहुत खराबी पैदा करती। काम तो इस से देश का हुआ , परन्तु एक शक्तिशाली वर्ग मुझ से बुरा मान बैठा। कुछ किस्मत ही ऐसी ले कर उतरा हू।

सभापति-निर्वाचन में झमेला

'सम्मेलन' की अतिथिशाला में ठहरा हुआ जब मैं अपना 'ब्रजभाषा का व्याकरण' छपवा रहा था, तो वहाँ एक अद्भुत घटना घटी। सम्मेलन के इतिहास में इस घटना का जोड नही और इस तरह जीती मक्खी कभी पहले निगली नही गई थी। 'सम्मेलन' के अगले (जयपुर में होनेवाले) अधिवेशन के सभापति का चुनाव हुआ। श्रद्धेय टडन जी तब तक जेल से छूटे न थे। चुनाव में जो मत-पत्र प्राप्त हुए, उन की गिनती के लिए जो सज्जन नियुक्त हुए, उन में एक भदन्त

आनन्द कौसल्यायन भी थे, जो मेरे साथ ही अतिथिशाला में ठहरे हुए थे। इन के अतिरिक्त प० रमाशकर शुक्ल 'रसाल' तथा प० वाचस्पति पाठक भी 'गणक' थे। मैं गणना-स्थल से कुछ हट कर, सामने ही एक कुर्सी पर वैठा, यो ही देख रहा था—कुतूहल था। गिनती करने पर दिल्ली के श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति को सर्वाधिक मत मिले, स्पष्ट हुए। इस परिणाम पर कुहराम मच गया! 'सम्मेलन' की वाग-डोर जिस 'दल' के हाथ में थी, उसी के एक प्रमुख नेता चुनाव में हार गए, यह था असली कारण उस कुहराम का। यानी श्री इन्द्र का विरोध नही, प्रत्युत एक दूसरे पक्ष के प्रति पक्षपात जो था, उस ने गडवड डाल दी। उसी समय लोग भागे-दौडे और घोषणा कर दी गई कि चुनाव का ढंग अनियमित था, इस लिए चुनाव अनियमित करार दिया जाता है, फिर चुनाव हो गा! चुनाव इस लिए अनियमित; क्योकि जिस नियम तथा पद्धति का अनुसरण हुआ है, वह गलत है। परन्तु उस नियम को वनाया था स्वय 'सम्मेलन' ने और उसी नियम से तथा उसी पद्धति पर आठ-दस वर्षो से चुनाव होते चले आ रहे थे। किन्तु समर्थ क्या नही कर सकता?

'सम्मेलन' मे यह गडवडी जो हुई, कांग्रेस की काली छाया मात्र थी। कुछ दिन पहले काग्रेस ने अपने निर्वाचित अध्यक्ष (श्री सुभापचन्द्र वोस) को उखाड़ फेंका था। उसी से वैसे लोगो को वल मिला—अनीति करने का साहस वढा। जो

विद्वान् चुनाव मे हारे थे, वे 'सम्मेलन' के कामो में एक मुद्दत से योग देते आ रहे थे, भले ही किसी दल में हो। यही नही, उन के विद्वान् पिता ने भी वहुत दिन तक सम्मेलन की प्रमुख सेवाएं की है। विद्वत्ता में वे अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति का महत्त्व रखते है और साहित्यिको में वन्धुत्व का स्नेह रखते है। इधर श्री इन्द्र जी भी एक महान् राष्ट्रीय नेता के सुपुत्र है, जिन्हो ने हिन्दी का अमित उपकार किया है। स्वयं इन्द्र जी ने भी हिन्दी का वहुत काम किया है, पर 'सम्मेलन' से ये प्राय अलग ही सदा रहे है—कभी कोई पद-भार सौंप दिया गया, तो उसे जरूर निभा दिया है। साहित्यिक जनो से इन का वर्ताव भी सरस आत्मीयतापूर्ण वैसा नही है। फिर भी, मुझे वह गडवडी खली, इस लिए कि इतने वडे निर्वाचक-मण्डल से तथा 'सम्मेलन' की नियमावली से खिलवाड की गई। स्पष्ट ही मै ने श्री इन्द्र के विरुद्ध उन के प्रवल प्रतिद्वन्द्वी को अपना मत दिया था और मेरा पक्ष हार गया था। परन्तु वह धाँधागर्दी मुझे वहुत वुरी लगी। मै ने उस का खुल कर विरोध किया और इस विरोध मे स्थायी समिति से त्याग-पत्र दे दिया। यह सव मै ने समाचार पत्रो मे छपवा भी दिया था। इस तरह का विरोध करने वाला या पहाड से सिर टकराने वाला मै अकेला ही था, यद्यपि वुरा वहुतो को लगा था। मेरे इस विरोध को लोगो ने अधिक वैर में ग्रहण नही किया, क्योकि सव सदा जानते रहे है कि मै कभी भी किसी दल के दलदल में नही रहा। इस

से मेरा विगाड इतना ही लोग कर सके कि कभी मेरी लिखी पुस्तके 'सम्मेलन' में नही छपने दी और अन्यत्र छपी पुस्तके परीक्षाओ में नही लगने दी। 'लेखनकला' उतने दिन तक इस लिए 'विशारद' में लगी रही, क्योकि उस के प्रकाशक इलाहावाद के ही एक पुस्तक-व्यवसायी है।

आखर दुवारा चुनाव हुआ। वे प्रतिष्ठित विद्वान् तो फिर न खडे हुए, जिन का जिक्र ऊपर मै ने किया है, परन्तु श्री इन्द्र जी पुन खडे हुए। इस वार इन्द्र जी फिर जीत जाते, पर चुनाव से पहले ही एक गलती हो गई। 'वीर अर्जुन' मे चुनाव-आन्दोलन कुछ आर्य-समाजी ढंग का महीनो चला। इस से पक्ष मे कुछ हलकापन आ गया और दूसरी ओर सनातनी अखाडा भी ताल ठोकने लगा। सच तो यह है कि श्री गणेश दत्त गोस्वामी को इसी लिए लोगो ने खडा कर दिया कि सनातनी लोग इकतरफा वोट दे। मैं ने तव तक कभी भी 'सम्मेलन' मे वैसा साम्प्रदायिक वातावरण चुनाव में न देखा था। गोस्वामी जी का समर्थन कुछ दूसरे लोगो ने इस मृगमरीचिका के आकर्पण से भी किया था कि वे रुपया मांगने में सिद्धहस्त है और 'सम्मेलन' का खजाना ठसाठम भर दें गे। ऐसे लोग वाद मे खूव पछताए। कुछ भी हो, गोस्वामी श्री गणेशदत्त जी चुनाव में जीत गए और श्री इन्द्र जी हार गए। प्रयाग के उस दल के लिए इतना ही वहुत था कि इन्द्र जी को न होने दिया सभापति।

मुझे कुछ दिन वाद ही मना लिया गया था, त्याग-पत्र

वापस लेने के लिए। मै करता भी क्या, जब चारो ओर सन्नाटा था! इन्द्र जी तो है ही क्या, जब कि श्री सुभाषचन्द्र बोस को उस तरह उलट देना भी देश ने चुपचाप सह लिया था, और राजर्षि टडन को तो अभी कल ही शक्तिशालियो ने सिंहासन से गिरा कर ही सांस ली, केवल यह मृगमरीचिका दिखा कर कि 'इस से सगठन मे तथा जनता मे मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होगे।' किसी ने तब से पूछा कि कौन-कौन से परिवर्तन हुए है? हां, साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन जरूर मिला है। ये सब प्रसगान्तर की चर्चाए है, केवल उदाहरणार्थ ध्यान गया।

कांग्रेसवाले भी भड़क उठे !

देश को विभाजन-पूर्वक स्वातत्र्य प्राप्त करने पर स्थानीय काग्रेसी भी मुझ से भडक उठे और ऐसे भडके कि मुझे एक बार फिर छह मास के लिए उबली हुई रोटियां तसले में खानी पडी। बात यह हुई कि पजाबी तथा सरहद्दी निर्वासित भाइयो का एक बहुत बडा पहला रेला हरिद्वार आया, तो धर्मशालाए, लाजिग हाउस, देव मन्दिर तथा अन्य इसी तरह के सब मकान ठसाठस भर गए। उस समय साधुओ के बडे-बडे आश्रम भी खूब काम आए, जो किसी समय इन्ही लोगो के पैसे से बने थे, जो आज 'बेचारे गरीब' कहे जाते थे। उस समय तक काग्रेसियो को कोई आदेश ऊपर से आए न थे, न कोई किसी का 'केम्प' ही तब तक लगा था। जगल में भी खुले आकाश के नीचे लोग पडे थे।

इन के इस प्रकार के आगमन से यहाँ (हरिद्वार) के कुछ लोग बहुत भडके और अफवाहे फैलानी शुरू की कि ये लोग किसी भी समय शान्ति भग कर सकते है, इस लिए सावधान रहना चाहिए। इस तरह की बातें सभाओ में कही जाने लगी और इन लोगो से नगर की शान्ति-रक्षा करने के लिए 'अमन सभा' सगठित की गई।

मेरे हृदय में ये सब बातें तीर की तरह चुभ रही थी। मेरे पास ऐसी कोई चीज न थी, जिस से मै अपने इन दुखी भाइयो की मदद कर सकता, यह दुख बराबर सताता था। ऊपर से ये 'अमन-सभा' वाले तग कर रहे थे। 'अमन सभा' में जो कई वर्ग थे, उन में से मुख्य ये है—

१—काग्रेस वाले, जिन्हें डर था कि ये लोग यहाँ बस गए, तो चुनाव में हमे वोट न दे गे और इन्हो ने कोई ऐसी अशान्ति फैलाई कि मुसलमान भाग गए, तो दुगना घाटा उठाना पडेगा।

२—मुसलमान इस लिए चिन्तित थे कि ये लोग यहाँ रहे, तो किसी भी समय आग भडका सकते है और हमे मुसीबत में डाल सकते है।

३—बनिज-व्यापार करने वाले इस घबराहट मे थे कि ये लोग यहाँ बस गए, तो हमारी रोटी में हिस्सेदार बन जाएं गे।

४—जिन लोगो का गुजारा यात्रियो पर ही है, वे इस लिए इन से ऊब रहे थे कि यदि इन्हो ने धर्मशालाए आदि न खाली की, तो यात्री आ कर कहाँ ठहरें गे! यात्री आने कम हो गए, तो हम क्या करें गे!

सो, चारों ओर से चार समुदाय इकट्ठे हो गए और 'अमन सभा' के द्वारा उन वेचारों के प्रति ऐसे भाव प्रकट करने लगे जैसे वे लोग जरायम-पेशा या पेशेवर वदमाश हों।

एक दिन कनखल के चौक में 'अमन-सभा' का जलसा हुआ। उस के सभापति थे प० हीरावल्लभ त्रिपाठी, जो अव 'एम० पी०' हैं। त्रिपाठी जी ने सभा का प्रारम्भ करते हुए कहा—"ये हमारे मेहमान हैं। मेहमान को आश्रय देना हमारा फर्ज है। परन्तु अमन रखना जरूरी है। अमन मे हम गडवडी न पडने दें गे।" मुट्ठी वांध कर उन्हों ने कहा—'अगर अमन में खलल पडा, तो हम उस का मुकावला सख्ती से करें गे, हमारे पास ताकत है।' त्रिपाठी जी की ये वातें मुझे अच्छी न लगीं, क्योंकि वे वेचारे जिस परिस्थिति में उस समय थे, सहानुभूति के शब्द चाहते थे। मुझे जव वोलने के लिए त्रिपाठी जी ने कहा, तो मैं ने अपना भाषण यों प्रारम्भ किया—"भाइयो, जिन के वारे में यह सभा हो रही है, वे हमारे मेहमान नहीं हैं, भाई हैं और इस घर मे, देश में, उन का वरावरी का हिस्सा है। हमें देना होगा, विना अहसान प्रकट किए। और, वे लोग पूर्ण शान्ति से रह रहे हैं, तव 'अपडर' से उन के प्रति वैसी भावना प्रकट करना और शक्ति के द्वारा दवाने की वात कह कर उनके दुखी मन को और भी दुखाना इस समय उचित नहीं है।"—इतना ही मैं कह पाया था कि सभापति ने आगे वोलने ही न दिया, वैठ जाने को कहा। मैं चाहता, तो सभापति की आज्ञा की उपेक्षा

। कर देता और उसे सभा से कुछ दूर अलग जा कर बोलने लगता, तो वह सम्पूर्ण सभा उखड कर मेरे पास पहुंच जाती। कांग्रेस-आन्दोलन के दिनों में अनेक बार अग्रेज-सहायक 'अमन-सभा' के वडे-वडे जलसों को तथा 'रेडीकल पार्टी' आदि की सभाओं को इसी तरह वात की वात में यही (हरिद्वार-कनखल में) उखाड देता था। जनता मेरी वात सुनती है।' परन्तु सभापति की आज्ञा मैं ने इसलिए मान ली कि उन के सभापतित्व का प्रस्ताव मैं ने ही किया था।

चुपचाप उठ कर घर चला आया और उस 'अमन-सभा' की हरकतो का मुकावला करने के लिए, निर्वासित भाइयो का पक्ष-समर्थन करने के लिए, दूसरे ही दिन मै ने 'नगर-शान्ति-सभा' का संगठन किया, जिस का मत्री मै स्वय वना। इस 'सभा' के द्वारा उस 'अमन-सभा' को मै ने जड मूल से उखाड दियाँ—कलई खोल दी। तव यह माँग रखी गई कि इन (निर्वासित जनो) से शस्त्रो के लाइसेंस वापस ले-लेने चाहिए। मैं ने अपनी सभा की ओर से इस का भी विरोध किया और कहा कि इन के पास अखिल भारतीय लाइसेंस है, जगल में पडे हुए है और अपने शस्त्रो का इन्हो ने कोई दुरुपयोग नही किया है, तव लाइसेंस छीनने की सिफारिश करना ईमानदारी की वात नही है। लाइसेंसो की वापसी की माँग भी दवी।

कुछ दिनो मे काग्रेसियो को ऊपर से आज्ञा मिली कि निर्वासितो की मदद करो। इधर मारवाडी रिलीफ सोसाइटी (कलकत्ता) तथा विरला-वन्धुओ ने भी सहायता-कैम्प लगा

दिए। काम ठीक चलने लगा और 'अमन-सभा' के साथ 'नगर-शान्ति-सभा' भी समाप्त हो गई।

परन्तु काग्रेसी लोग मुझ से बेतरह चिढ गए। ज्वालापुर के मुसलमान तो मुझे शत्रु की-सी बुरी निगाह से देखने लगे। कहते थे—'मुल्क के बाशिन्दो के खिलाफ गैरमुल्कियो की तरफदारी कर के यह बर्बादी ला दे गा।'

ज्वालापुर हरिद्वार म्यूनि० के भीतर है और हरिद्वार-कनखल की सम्मिलित जन-सख्या से दुगुनी वहाँ की जन-सख्या थी, अब भी है। उस समय वहाँ मुसलमानो की आबादी आधी थी, आधे मे शेष सब थे। परन्तु जोर उन का इतना था कि कस्बे मे लोग 'रामलीला' तक न कर सकते थे। वहाँ के कसाईखाने मे नित्य गो-हिसा होती थी और कसाई लोग खुले आम कभी-कभी प्रदर्शन कर के तीर्थ-पुरोहितो को तग किया करते थे। मै इन बातो से जलता था, पर स्वराज्य की राह देख रहा था, सब सह रहा था। मै ज्वालापुर से कई मील दूर कनखल मे बसा, यह भी अच्छा ही हुआ। परन्तु इस समय मुझे ज्वालापुर के इन लोगो की हरकते बहुत खलने लगी। मै ने व्यक्तिगत रूप से एक प्रार्थना निकाली—छपवा कर बंटवाई। बंटवाई क्या, स्वय जा कर बाँटी, क्योकि ज्वालापुर मे वह पर्चा बाँटना किसी ने भी स्वीकार न किया। उस में यही लिखा था कि कसाई-खाने मे गोहिंसा अब बन्द कर देनी चाहिए, क्योकि यह कस्बा हरिद्वार तीर्थ का ही एक अग है, लोगो के दिल बहुत

दुखी होते है। और 'रामलीला' होने देना चाहिए, इस में रुकावट डालना ठीक नही है। यह भी छापा था कि हम लोग जब आप लोगो का दिल दुखाने का कोई काम नही करते, तो आप को भी वही बर्ताव करना चाहिए।

मेरी इस प्रार्थना से कांग्रेसी लोग तथा मुसलमान लोग बहुत नाराज हो गए और जिला-मजिस्ट्रेट से जा कर शिकायत की कि बाजपेयी ने रिफ्यूजियो को भडका कर दगा करा देने की नियत से यह काम शुरू किया है—ऐसे पर्चे निकालने लगा है। मजिस्ट्रेट ने मुझे बुलाया और कहा—"यह पर्चा आप ने उपद्रव कराने की नियत से छपवाया है, यह ठीक नही है।" मैं ने उत्तर मे बडे अदब से निवेदन किया—"मैं तो उपद्रव की जड ही हटा देना चाहता हूं। उसी के लिए वह पर्चा है। उपद्रव का कारण दूर करना चाहिए। तब कोई उपद्रव कैसे हो गा?" मजिस्ट्रेट को मेरी बातो से सन्तोष न हुआ और उस ने क्रोध मे कहा—'तो फिर कानून अपना रास्ता पकडे गा।'—"अवश्य कानून को अपना काम करना चाहिए" कह कर मैं चलता बना। जिले के अधिकारियो ने अब तक अनुभव कर लिया था कि अदालत में इसे फांस लेना बहुत सरल नही है। सो, उस समय सब चुप हो गए।

कुछ दिन बाद बडा भारी जन-समर्द हो गया और उस में सैकडो आदमी मारे गए। मुसलमान भाग गए और पजाबी लोगो को जगह मिल गई। उस दगे में मुझे फंसाने की चेष्टा की गई, पर न मैं ने कभी लाठी उठाई, न दगे की ओर मुह ही किया। यह अवसर भी चूक गया।

परन्तु जब महात्मा जी पर किसी 'पागल' ने गोली चला दी, तब देश भर मे जो दस-बारह हजार हिन्दू-महासभा वाले तथा राष्ट्रीय स्वयसेवक-सघ वाले पकड कर जेल में डाल दिए गए थे, उन के साथ मुझे भी पकडवा दिया गया। न मैं 'सभा' का कभी सदस्य बना था, न 'सघ' का, न इन सगठनो से कोई दूर का ही सम्बन्ध था। परन्तु जेल में जो अभियोग-पत्र मुझे मिला, उस मे लिखा था—'सघ का कार्य करता है।' 'कार्यकर्ता' को 'कार्य करता' पुलिस वालो ने हिन्दी मे लिखा था। यो मुझे जबर्दस्ती काग्रसियो ने दूसरी ओर धकेल दिया। फिर, जेल से छूटने के बाद मैं ने 'सभा' तथा 'सघ' की ओर आकर्षण प्रकट किया, जो कि स्वाभिमान-रक्षा के लिए भी जरूरी था। परन्तु तो भी, आज तक मैं इन सगठनो मे से किसी का भी सदस्य नही बना हूं। हाँ, इन सगठनो की कई बातें मुझे अच्छी लगती है, यह मैं क्यो छिपाऊं?

मजिस्ट्रेट फँस गए

इस बार मैं जेल से कैसे छूटा, यह बडा मनोरजक किस्सा है। चार-साढे चार मास जब जेल में नजरबन्दी काटते हो गए और अन्याय-सशोधन की आशा एकदम जाती रही, तब जिला-मजिस्ट्रेट की मार्फत मैं ने प्रदेश के मुख्य मत्री के नाम एक लम्बी चिट्ठी लिखी, जिस मे अनशन की सूचना थी। वह चिट्ठी जेल के रजिस्टर मे चढ़ कर मजिस्ट्रेट

के पास गई। मजिस्ट्रेट थे श्री रामेश्वर दयाल जी, जो वाद में दिल्ली के डिप्टी कमिश्नर हुए और अव रिटायर हो गए है। चिट्ठी मे लिखा था—

"माननीय मुख्य मत्री जी, मै इस समय सहारनपुर-जेल में पडा सड रहा हू—अकारण। काम मै ने जन्म भर वे ही किए है, जो आप ने किए है, परन्तु आप के वाल-वच्चो को भूखो मरने की नौवत न आई हो गी। मेरे जैसे काग्रेसियो के सामने यह भी आया। पर स्वराज्य में आप शासक है और मै जेल में हू। इस का कारण यह है कि एक काम मै ने ज्यादा किया है। जव 'मुस्लिम लीग' का 'डाइरेक्ट ऐक्शन' शुरू हुआ और उस की लपटो ने देश भर को झुलसाना शुरू किया, तव महात्मा जी ने तथा सरदार पटेल (गृह-मत्री) ने छपा कर कहा कि—'जनता को अव अपने पैरो खडा होना चाहिए, केन्द्रीय सरकार इस समय पगु है।' इस आज्ञा को जिन लोगो ने शिरोधार्य कर के अपने आप को जोखिम मे डाला और गुडो का मुकावला कर के उन्हे ठढा किया, उन की प्रशसा मै ने खुल कर की—छपवा कर उन्हें वधाई दी। इस तरह 'अपने पैरो खडे' होने वालो मे नि सन्देह उन की सख्या अधिक थी, जिन्हें 'साम्प्रदायिक' कहा जाता है। परन्तु काँटे से काँटा निकाला गया। अव उस काँटे को भी तोड कर फेंक देने का अवसर आया, महात्मा जी के कारण। तव उन 'साम्प्रदायिक' लोगो के साथ मुझे भी पकड लिया गया, इस लिए कि उन की पीठ मै ने ठोकी थी। अवश्य मै ने

यह अपराव किया है, परन्तु अपने नेताओ के कहने पर, जिन्होने अपने पैरो पर खडे होने को कहा। लेकिन अव मै प्रतिज्ञा करता हू कि इस तरह ऐसे नेताओ के कहने मे कभी न आऊंगा और इस लिए मुझे जेल मे छोड देना चाहिए। यदि इतने पर भी न छोडेंगे, तो पन्द्रह दिन तक राह देख कर मै सोलहवे दिन से अनशन प्रारम्भ कर दू गा।"

मुझे पता नही कि मजिस्ट्रेट ने यह पत्र आगे वढाया, या अपने ही पास रोक लिया। परन्तु सोलहवे दिन जव दुपहर को मैने भोजन न लिया, तो गडवडी मची। जेलर तया जिला-मजिस्ट्रेट ने टेलीफोन पर वात-चीत की। मुझ से जेलर ने आ कर कहा कि साहव कह रहे है कि जमानत-मुचलके दे दो, छोड दिए जाओ गे।' मै पुराना काग्रेसी, जमानत-मुचलके के नाम से चिढ! तव यह कहा गया—"जमानत-मुचलके लिए विना आप को छोड दिया जाए गा। आप की वात रह जाए गी। फिर एक सप्ताह में, वाहर से, जमानत-मुचलके का प्रवन्ध इस लिए कर दीजिए गा कि सरकारी कागजो की खानापूरी हो जाए।" मै ने यह वात मान ली और जेल से वाहर आ कर शहर गया, चाय पी तथा घर के लिए साग-भाजी खरीदी। रेल-खर्च जेल से मिला ही था, कुछ अपने पैसे जमा थे, वे सव खर्च कर दिए।

घर पहुंच कर आराम से रहने लगा। जेल में रहते समय हिन्दी के शब्द-शास्त्र पर वहुत कुछ सोचा था, जिसे कागज पर उतारने का ढाचा वनाने लगा। इसी समय

सप्ताह समाप्त हो गया और एक दिन जिला-मजिस्ट्रेट का हुक्म या चेतावनी ले कर पुलिस का आदमी आ-धमका। लिखा था—"एक सप्ताह समाप्त हो गया है। यदि तीन दिन के भीतर जमानत-मुचलके न दिए, तो कानूनी कार्रवाई की जाए गी।"

मैं ने कागज ले कर लिखा—'उधर देखिए।' और उसी कागज की पीठ पर यो लिखा—"महोदय, इस हुक्म पर मुझे इतना निवेदन करना है कि कोई बुरा काम मैं ने न किया है, न करने का इरादा है। जब वैसा काम करूं, तो पकडवा लीजिए गा। इसलिए जमानत-मुचलके की बात ठीक नही है। फिर भी, यदि वैसा करना जरूरी आप समझे, तो निवेदन है कि मैं जमानत-मुचलके देने को तयार नही हूं और घर का प्रबन्ध कर दिया है—फिर छह मास जेल में रहने को तयार हूं। परन्तु इस बार मैं हाईकोर्ट में हैबियस कार्पस उपस्थित कराऊंगा। सम्भव है, हाईकोर्ट मुझे न छोडे; परन्तु फैसले मे यह जरूर लिखा जाए गा कि "देश मे एक जिला-मजिस्ट्रेट ऐसा भी है, जो कैदियो को पहले छोड देता है और बाद मे जमानत-मुचलके मांगता है।" तब आप की क्या स्थिति हो गी, समझ सकते है। इस लिए, यह आप के लिए ही अच्छा हो गा कि अब ये कागज 'दाखिल-दफ्तर' कर दिए जाएं—जमानत-मुचलके की चर्चा न उठाई जाए।"

कागज वापस गया और सब 'दाखिल-दफ्तर'। इस

घटना से यहां के कांग्रेसी चिढे, कहने लगे —मजिस्ट्रेट ने विश्वास कर लिया, उसे धोखा देना संस्कृत के पण्डितो का काम है। मैं ने कहा—'यदि कभी हमारी पार्टी का शासन आया, तो इस मजिस्ट्रेट को तुरन्त बर्खास्त कराऊंगा। कैदियो पर विश्वास! ऐसे शासक तो देश को डुबो देगे।" चुप हो गए।

साहित्य-निर्माण

अब मैं साहित्य-निर्माण मे लग गया। मैं ने सोचा कि जो-जो इमारते मैं बना सकता हूं, उन सब के नमूने (माडल) सामने रख दूं, लोग देखे, और फिर देश जिस नमूने को पसन्द कर के जो इमारत बनवाना चाहेगा, उसी मे लग जाऊंगा। अपने आप वैसा उतना बडा काम मैं न करूंगा, यह भी सोच लिया। मैं जिन विषयो पर कुछ अच्छा लिख सकता हूं, वे ये है—१—काव्य के तत्त्व, रस, अलकार, शब्द-शक्ति आदि, २—हिन्दी का व्याकरण, ३—निरुक्त, ४—हिन्दी साहित्य का इतिहास, ५—बहुविज्ञापित हिन्दी काव्य का 'रहस्यवाद' ६—कांग्रेस युग का राजनैतिक इतिहास, ७—धर्म-विज्ञान, ८—शब्द-शिल्प। प्राय इन सभी विषयो के नमूने मैं दे चुका हूं। अब यह देश पर अवलम्बित है कि मुझ से कोई काम आगे ले, या न ले।

उन नमूनो को लोगो ने कैसा समझा है, पसन्द किया है या नापसन्द किया है, सब जानते है। इस लिए यहाँ कुछ कहने की जरूरत नही है। परन्तु इतना निश्चय है कि किसी भी नमूने की बडी इमारत तब तक नही बनाई जा सकती, जब तक उस की मांग न हो, कोई बनवाने वाला सामने न हो।

है, जैसे इन्हो ने ही मनन कर के सब सोचा-निकाला हो। मेरी पुस्तको का या मेरा नाम ले दें, तो प्रतिष्ठा मे कमी आ जाए। ये ही लोग विविध परीक्षाओ के विधाता है, जहाँ लगे बिना कोई गम्भीर चीज प्रसार नही पा सकती। ये ही लोग उत्कृष्ट साहित्य के नव-निर्माण मे प्रमुख बाधक है। इन में से कितने ही चोरी भी करते है—मेरी पुस्तको के अंश चुरा कर अपनी पुस्तको मे चुपचाप रख लिए है, जिन मे बडे-बडे विश्वविद्यालयो के प्रतिष्ठित तथा पुराने प्राध्यापक भी है। इन में से कई पकडे भी गए है, जो अर्थ-दण्ड भुगतने तथा माफी माँगने पर ही छोडे गए है। इन के लिखित माफीनामे हमारे पास है। व्याकरण पर लिखनेवाला कोई भी 'डाक्टर' ऐसा नही, जिस ने कुछ न कुछ मेरी पुस्तको से न लिया हो। परन्तु थोडा-बहुत ले भगनेवाले का पीछा नही किया जाता। किस के-किस के पीछे दौडो! परन्तु जिसे पकड लिया, फिर वह छूट नही सकता। इन लोगो की लम्बी सूची मै दे सकता हूं, परन्तु उसे कुछ दिन बाद ही दूंगा। वह इस लिए कि भविष्य मे आनेवाली पीढी को इस युग की वस्तु-स्थिति मालूम हो जाए, कोई मुझे गाली न दे कि वह इस विषय पर लिख सकता था, पर कम्बख्त साथ ही सब ले कर मर गया!

खण्डन का इलजाम

मै साहित्य-निर्माण में आगे नही बढने पा रहा हूं, इस

में मेरी खण्डनात्मक शैली को भी दोषी ठहराया जाता है ! बन्धुवर डा० बाबूराम सक्सेना ने झुंझला कर एक पत्र में साफ-साफ लिखा था—"आप ने सभी बडे-बडे लोगो की पगड़ियाँ उछाली हैं।" सक्सेना जी आर्यसमाजी हैं। मैं ने उन्हें लिखा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती से ज्यादा मैं ने बड़े-बड़े लोगो की पगडियाँ नही उछाली हैं !

और, खण्डन किए बिना साहित्य का अन्धकार मिटेगा कैसे ? महान् दार्शनिक शकर-रामानुज आदि ने भी पूर्व पक्षो का खण्डन किया है। व्यास तथा जैमिनि ने भी दूसरो का खण्डन किया है। अभी कल तक आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने भी दूसरो के मत निराकृत किए हैं। सो सब ठीक, केवल यह वाजपेयी बुरा ! इस लिए कि यह काशी-प्रयाग में रहता नही है, किसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नही है, 'डाक्टर' नही है, साधारण 'एम० ए०' तक नही है। इसी लिए बुरा।

गर्वीला स्वभाव

इधर लोग यह भी कहने लगे हैं कि यह गर्व बहुत करता है—ऐसी गर्वोक्तियाँ करता है कि दूसरो को बहुत बुरी लगती हैं। यह भी प्रगति में बाधा ! परन्तु निवेदन यह है कि इस में मेरा दोष नही। गर्व की भावना प्रकृति या भगवान् ने पैदा की है। देखना यह होता है कि गर्व करने योग्य कोई चीज है भी कि नही और गर्व उचित अवसर पर, उचित ढंग से,

उचित मात्रा मे प्रकट किया गया है कि नही। गर्व का एकदम अभाव या तो वीतराग योगी मे हो सकता है, या फिर गधे मे। मनुष्य मे तो गर्व की भावना है और वह प्रकट भी होती है। गोस्वामी तुलसीदास तक गर्व करते देखे गए है। जब उन की सरस कृतियो का भी मजाक उडाया गया, तब काशी के उन 'विद्वान्' लोगो को लक्ष्य कर के उन्हो ने कहा है—जो 'विनु काज दाहिनेहुं वाएं' हो कर वाधा पहुंचाते थे, जिन्हे वे 'भूत' कहा करते थे—

खल उपहास होहि हित मोरा,
काक कहहिं कलकठ कठोरा।

यहाँ तुलसी अपनी वाणी को मीठी काकली नही वतला रहे है क्या? यह गर्व नही है क्या?

इसी तरह की उपेक्षा पर सन्त कवीर ने भी वैसी गर्वोक्तियाँ की है। शाहजहाँ के समय मे पण्डितराज जगन्नाथ दिल्ली मे रहते थे, जिन के पाण्डित्य-प्रभाव से देश भर के पण्डित हतप्रभ हो गए थे। परन्तु 'स्थान प्रधान' के कारण काशी के पण्डितो ने उन की उपेक्षा की। उस समय काशी मे सर्व-श्रेष्ठ पण्डित थे श्री अप्पय दीक्षित। पण्डितराज जगन्नाथ ने उस समय जो तात्त्विक गर्वोक्तियाँ प्रकट की है, वडे रस के साथ पढी जाती है। और श्री अप्पय दीक्षित को तो पण्डितराज ने साहित्य-शास्त्र मे ऐसा रगड दिया है कि क्या कहा जाए!

सो, गर्व तो स्वत प्रकट होनेवाली चीज है। उसे कैसे

रोका जाए ? देखिए यह कि गर्व के लायक चीज है या नही और गर्व प्रकट करने के कारण (परिस्थिति आदि) है, या अकाण्डताण्डव किया गया है।

मै क्या गर्व करूँ! गर्व प्रकट करने योग्य चीजें तो मै अभी तक दे ही नही पाया हूं—

सोचा मै ने उष - काल मे,
मा का भवन सजाऊँ।
अभिनव अर्थ उपार्जित कर के,
मै भी भेंट चढाऊँ।
किन्तु भक्त-पद-प्रक्षेपो से,
धूल यहाँ भर आई।
रहा वुहार उसी को तव से,
यो सव उम्र गँवाई!

परन्तु तो भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी मे—

तद् दृष्ट यन्न केनाऽपि, तद् दत्त यन्न केनचित्।

इसके साथ यह भी कि यह सव काम करने के लिए लोहे के चने चवाने पडे है—

'भुक्त चाऽभुक्तमन्येन' !

अव जी भर गया है और दिल भर आया है। अव उस दिशा को छोड रहा हूं। मै लिखना अव छोड रहा हूं, इसका मतलव यही है कि दिशा वदल रहा हूं। इसके आगे अव गम्भीर विषयो के चिन्तन-लेखन मे समय न

लगाकर दूसरे कुछ सार्वजनीन विषयों पर ही लिखूं गा , जैसे —साहित्यिक पूर्वजों के और अपने संगी-साथियों के संस्मरण, आचार्य द्विवेदी तथा राजर्षि टण्डन आदि विभूतियों के जीवन-वृत्त, संस्कृत के प्राचीन तथा अर्वाचीन असाधारण विद्वानों के जीवन-संस्मरण, नागरिक जीवन, दाम्पत्य-जीवन, पौराणिक कहानियाँ आदि । ये भी काम की चीजें हैं और इन विषयों पर लिखी चीजें 'कोर्स' की मुहताज न हों गी । वे स्वतः जनता में चलें गी । यह सब बतलाने के लिए ही यह संस्मरण-पुस्तक है । इसे सार्वजनिक रूप से प्रकट की गई मेरी सफाई या वसीयतनामा भी आप समझ सकते हैं । पिछले एक लम्बे युग में मैं ने क्या किया, क्या न कर सका, उन सब बातों का लेखा-जोखा राष्ट्र को देना ही चाहिए । ऐसा न करने से भ्रम रहता । लोग समझ न पाते कि वाजपेयी के 'असफल' रहने का कारण क्या है । इस से समझ में आ जाए गा कि इस व्यक्ति का झगडालूपन ही वैसी असफलता का कारण है । कितने झगडे ! ऐसे व्यक्ति को, इस युग में, कैसे वैसी सफलता मिले ! ऐसे मार्ग से बचना चाहिए ।

—— o ——

अच्छी हिन्दी का नमूना

काशी के बाबू रामचन्द्र वर्मा ने भी एक 'अच्छी हिन्दी' नाम की पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में वर्माजी शतश स्थलो पर भटक गए—गलत को सही तथा सही को गलत समझ बैठे। वर्मा जी साधारण व्यक्ति नही है—असाधारण हिन्दी के विद्वान है। उनकी गलती सम्पूर्ण हिन्दी जगत् की गलती समझी जानी चाहिए। इस पुस्तक से बहुत भ्रम बढता है, यदि वाजपेयी जी सही न करते।

वर्मा जी ने जहाँ - जहाँ हिन्दी शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध में भूल की है, सर्वत्र वाजपेयी जी ने सुधार किया है, परिष्कार किया है। 'अच्छी हिन्दी का नमूना' हिन्दी में भाषा-परिष्कार, भाषा-विज्ञान तथा प्रयोग विवेक की बहुत ऊँचे दर्जे की चीज है। हिन्दी के विद्वान तथा एम० ए० या 'साहित्य-रत्न' के छात्र ही इस का रसास्वादन ले सकते है।

—o—